तत्त्वज्ञान गाईड

भाग-1

– डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

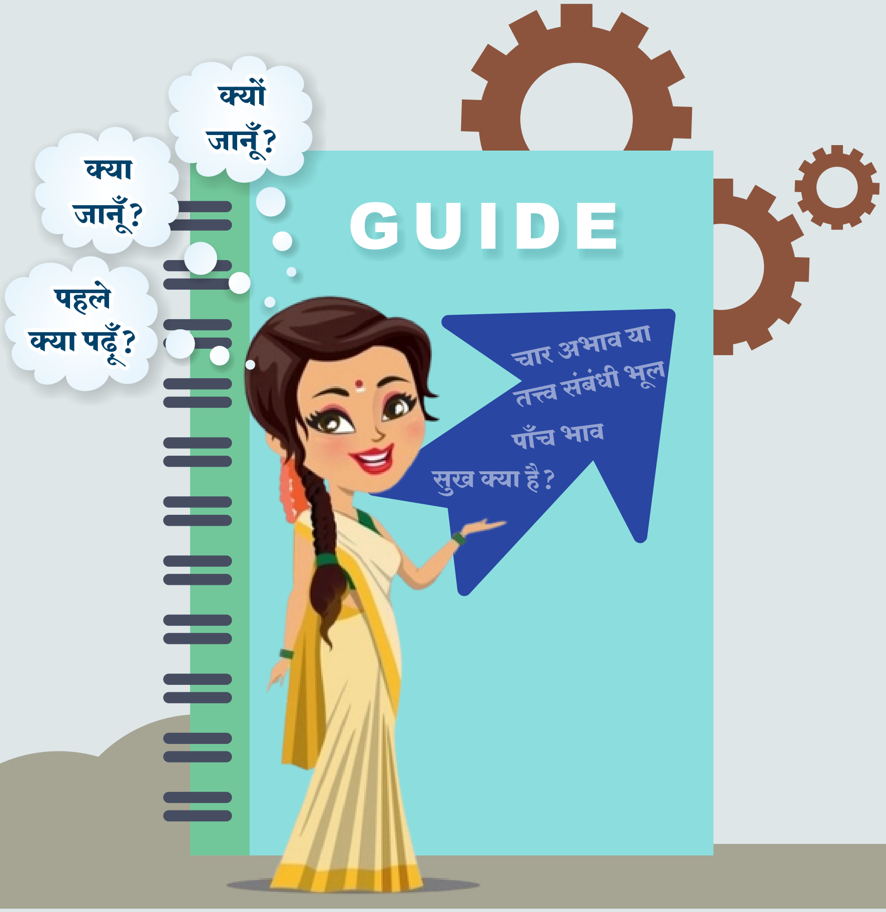

तत्त्वज्ञान गाईड

भाग–1

लेखिका

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

बी.ए.ऑनर्स, एम.ए., पी.एच.डी. (स्वर्णपदक प्राप्त)

मो. 09321295265 / Email: dpptmumbai@gmail.com

मुंबई (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर – 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

E-mail : ptstjaipur67@gmail.com

तत्त्वज्ञान गाईड भाग-1 : **डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया**

प्रथम संस्करण : 1000
(15 अगस्त, 2025)
स्वतंत्रता दिवस

मूल्य : **25/- रुपये**

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृ.सं.
1.	श्री सीमन्धर पूजन	1
2.	सात तत्त्वों संबंधी भूलें	16
3.	लक्षण और लक्षणाभास	28
4.	पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं	32
5.	सुख क्या है?	44
6.	पाँच भाव	47
7.	चार अभाव	56
8.	पाँच पांडव	61
9.	भावना बत्तीसी	64
10.	प्रश्न पत्र	88
11.	ग्यारह प्रतिमा भेद-प्रभेद का चार्ट	90

मुद्रक :
पॉपुलर प्रिन्टर्स
जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने में 2500/- रु.
श्री महेश जे पारेख, मुम्बई द्वारा सधन्यवाद प्राप्त हुए।

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'तत्त्वज्ञान गाईड भाग-1'** की लेखिका डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया बचपन से ही प्रतिभाशाली रही हैं। उन्होंने पूत के लक्षण पालने में ही नज़र आ जाते हैं - कहावत को चरितार्थ किया है। विद्वत्ता की दृष्टि से वे पिताश्री डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के पदचिन्हों पर ही चल रही हैं। उनके द्वारा अभी तक छोटी-बड़ी 61 पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं; जो आपकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण हैं। जैनदर्शन के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर आपकी लेखनी चली है।

साथ-ही-साथ आपने जैन सिद्धान्तों पर आधारित अनेक 'गेम्स' भी बनाए हैं, जिनके खेलने के नियम भी जैन सिद्धान्तों का ज्ञान कराते हैं। इन 'गेम्स' की विशेषता यह है कि इनको खेलने से बच्चों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ अहिंसात्मक आचरण की प्रवृत्ति भी सहज विकसित हो जाती है। इनमें जीत हिंसात्मक कार्य मार-पीट से नहीं, ज्ञान-ध्यान से हासिल की जाती है। बच्चों को ज्ञान-ध्यान करने की प्रेरणा मिलती है।

आपने 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार एक समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। आपने अपने शोध ग्रन्थ में शोध समीकरणों (rules and regulations) को ध्यान में रखते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और टीकाकारों का सर्वांगीण (सम्पूर्ण) विवेचन सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है, जो कि विद्वत्जन और बुद्धिजीवी वर्ग के साथ-साथ जनसामान्य को भी अपनी ओर आकृष्ट (attract) करता है। यही कारण है कि 'परमागम ऑनर्स' के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम में यह पुस्तक शामिल की गई है।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकें भी अद्यावधि (अब तक) जैन समाज में प्रचलित अन्य पाठ्यपुस्तकों से भिन्न शैली, रंगीन चित्रमय प्रस्तुति एवं मूल तत्वज्ञान के समावेश के कारण अपनी विशिष्ट पहचान रखती हैं।

आपकी सभी कृतियाँ अध्यात्मरस से सराबोर और भेदज्ञान से ओतप्रोत हैं। आप विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में अध्यात्म को सरल भाषा में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हैं।

जिन्हें आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार, पंचास्तिकाय संग्रह, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन-मनन करना है व ध्यान के प्रारम्भिक रूप की गहराइयों में उतरना है, उनके लिए आपने - **सिद्धान्त विशारद** का पंचवर्षीय कोर्स प्रारम्भ किया है।

गूढ़ से गूढ़ विषय को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने की कला में आप माहिर हैं। आपके द्वारा लिखी गयी बालबोध गाईड व प्रवेशिका गाईड नयचक्र गाईड आदि सभी गाईड पुस्तकें काफी लोकप्रिय हो रही हैं। उसी श्रृंखला में तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-1 के ऊपर लिखी गई यह तत्त्वज्ञान गाईड भी पाठकों को अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी। इसी भावना से प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। शीघ्र प्रकाशन व्यवस्था के लिए डॉ. अखिल बंसलजी का बहुत आभार है। **-विपिन जैन 'शास्त्री' मुम्बई**

प्रकाशन मंत्री

हाल ही में अनेक छात्रों के अनुरोध के कारण और जिनवाणी की प्रभावना हेतु डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया अनेक व्यावहारिक विषयों को आधार बनाकर अत्यंत सरल और सटीक भाषा में जिनवाणी का मर्म समझाने हेतु अपने सोशल मीडिया अकाउंट का अवलंबन लिया है।

उनके द्वारा लिखे गए साहित्य का लाभ लेने हेतु नीचे दिए गए उनके सोशल मीडिया एकाउंट्स को फॉलो करें :

Facebook : https://www.facebook.com/d.shuddhatmprabha.taraiya
Instagram : https://www.instagram.com/shuddhatmprabha
Twitter : https://twitter.com/DrTaraiya
LinkedIn : https://www.linkedin.com/in/dr-shuddhatmprabha-taraiya-49b2b3212
YouTube : https://youtube.com/@vidwatratnadrshuddhatmprab4714

× × × × ×

साहित्य विशारद की अधिक जानकारी हेतु नीचे दिए गए वेबसाइट या फ़ोन नंबर पर contact करें :

www.practicaljainism.com **श्री अविनाश टड़ैया : 9221225264**

अपनी बात

आज का युग गाईड का युग है। आज की पीढ़ी स्कूल की पढ़ाई भी उसी से करती है। मैं भी अध्ययन काल में गाईड का सहयोग लेती थी।

मैंने महसूस किया कि आजकल अंग्रेजी माध्यम की पढ़ाई के जमाने में पाठकों की हिंदी बहुत कमजोर रह गई है; अतः धार्मिक सरल से सरल पुस्तकें भी उन्हें कठिन प्रतीत होती हैं। साहित्यिक शब्दावली, अलंकार, संधि, समास आदि सभी से अपरिचित वे धार्मिक पुस्तकें पढ़ने में कठिनाई महसूस करते हैं।

विगत अनेक सालों से परमागम ऑनर्स के विद्यार्थी भी इस परेशानी से गुजर रहे हैं। बालबोध गाईड व प्रवेशिका गाईड से पढ़ने के पश्चात् उन्हें तत्त्वज्ञान गाईड की कमी महसूस हो रही थी, अतः उन सभी के बारम्बार आग्रह करने पर यह पुस्तक लिखी गयी है।

पाठकों की सुविधा के दृष्टिकोण से इस पुस्तक में पद्यात्मक पाठों में सभी पद्यों के शब्दार्थ, संदर्भ, सामान्य अर्थ व भावार्थ दिए गए हैं। भावार्थ में पद्यों की एक-दूसरे से कनेक्टिविटी, विशेषता व अन्य महत्त्वपूर्ण बिंदुओं को दिया गया है और गद्यात्मक पाठों के सभी बिन्दुओं को विस्तार से सरल भाषा में उदाहरण सहित समझाया गया है।

परमागम ऑनर्स के विद्यार्थियों के निमित्त से लिखी यह पुस्तक अन्य पाठकों को भी वस्तु स्वरूप समझने में सहयोगी हो, ऐसी मेरी भावना है।

–डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

अप्रभावित होकर जानते रहना और जानकर भी अप्रभावित रहना– यह सहज ज्ञान की मुख्य विशेषता है।

लेखिका की अन्य कृतियाँ

01. जैन नर्सरी (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
02. जैन के.जी. भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
03. जैन के.जी. भाग-2 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
04. जैन के.जी. भाग-3 (हिन्दी, अंग्रेजी, गुज. मराठी, तमिल)
50-06. जैन कलर बुक भाग 1-2 (ड्राइंग बुक)
07-10. जैन जी.के. भाग-1 से 4 तक (हिन्दी, अंग्रेजी)
11-16. जैन जी.के. भाग-5 से 10 तक (हिन्दी)
17-18. चलो पाठशाला, चलो सिनेमा भाग 1-2
19. सीखें हम गाते-गाते
20. शब्दों की रेल
21-23. आगम प्रवेश भाग-1,2,3
24. मुझमें भी एक दशानन रहता है
25. संस्कार का चमत्कार (दादी की कहानी)
26. बढ़ते कदम
27. राम कहानी
28. विचार के पत्र : विकार के नाम
29. तलाश : सुख की
30. मुक्ति की युक्ति
31. एक संभावना यह भी
32. सत्ता का सुख
33. बालबोध प्रशिक्षण गाईड
34. प्रवेशिका प्रशिक्षण गाईड
35. अर्चना गाईड
36. नयचक्र गाईड (अध्यात्म के नय)
37. आगम के नय
38. अनुपम खोज (सप्तभंगी टीका)
39. उपादान निमित्त दोहा (टीका)
40. परीक्षामुख प्रवेशिका (टीका)
41. प्रमाणज्ञान
42. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
43. आत्मानुभूति कैसे?
44. जैनदर्शनसार
45. आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (लघु शोध)
46. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबंध)
47. मिनी समयसार
48-49. समयसार प्रश्नोत्तरमाला भाग-1, 2
50-52. परमागम प्रवेशिका भाग-1, 2, 3/4
53-55. मीडियम समयसार : भाग-1, 2, 3
56. आनंद एक : रूप अनेक
57. बढ़ते कदम : परमागम की ओर
58. द्रव्यसंग्रह प्रवेशिका
59. ध्यान एक : रूप अनेक
60. सत्तासिद्धि भाग-1
61. तत्त्वज्ञान गाईड भाग-1

जैन गेम्स

1. नो टाइम पास
2. हमारी लाईफ
3. लगे रहो जीवराज
4. चौबीसी (Poster)
5. Maze to Moksh

E-books

01. मिनी समयसार भाग -1
02. मिनी समयसार भाग -2
03. परमागम प्रवेशिका भाग - 1
04. परमागम प्रवेशिका भाग - 2
05. परमागम प्रवेशिका भाग - 3
06. परमागम प्रवेशिका भाग - 4
07. मीडियम समयसार भाग - 1
08. प्रमाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान
09. समयसार प्रश्नोत्तरमाला : भाग-1
10. आनंद एक : रूप अनेक
11. बढ़ते कदम : परमागम की ओर

(1) श्री सीमन्धर पूजन

यह पूजा डॉ. भारिल्ल द्वारा रचित है। वे चिंतनशील कवि हैं। उनके लेखन में तत्संबंधी विषयवस्तु का सर्वांगीण विवेचन दिखाई देता है। इस पूजा में भी सीमंधर भगवान का स्वरूप विभिन्न अपेक्षाओं से बताया है। इस पूजा में अलंकारों की भरमार है। विशेष तौर पर उपमा, रूपक और अनुप्रास अलंकारों का बहुतायत से प्रयोग किया गया है। एक ही शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है, जिससे इस पूजा का काव्य सौन्दर्य निखर उठा है।

स्थापना

(कुण्डलिया)

भव–समुद्र सीमित कियो, सीमंधर भगवान।
कर सीमित निजज्ञान को, प्रगट्यो पूरण ज्ञान ।।

प्रगट्यो पूरण ज्ञान–वीर्य–दर्शन सुखधारी।
समयसार अविकार विमल चैतन्य–विहारी ।।
अंतर्बल से किया प्रबल रिपु–मोह पराभव।
अरे भवान्तक! करो अभय हर लो मेरा भव ।।

शब्दार्थ – भव = संसार, पूरण–पूर्ण, समयसार–शुद्धात्मा, रिपु–शत्रु, पराभव = हरा दिया, नष्ट कर दिया, भवान्तक = भव का अंत करने वाला।

संदर्भ – प्रस्तुत स्थापना के छन्द में सीमंधर भगवान के स्वरूप को बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे सीमंधर भगवन्! आपने अपने ज्ञान को पर से हटाकर अपने आप में सीमित कर, पूर्णज्ञान प्रगट कर लिया और अपना संसार समुद्र सीमित कर लिया है अर्थात् आप अब असीमित समय तक संसार में नहीं रहेंगे। हे भगवान! आपने निर्विकारी, निर्मल शुद्धात्मा

का ध्यान कर अपने अंर्तबल से प्रबल शत्रु मोह को नष्ट कर अनन्त दर्शन–ज्ञान–सुख व वीर्य की प्राप्ति की है।

इसप्रकार अपने भव का अन्त करने वाले हे भवान्तक! सीमन्धर भगवन्! आप मेरे भव को दूर कर मुझे अभय प्रदान करें अर्थात् मुझे इस संसार से निकालकर अविनाशी पद की प्राप्ति करने का आशीर्वाद दें।

भावार्थ – इस छंद में अपने भव को समाप्त करने की भावना भाई गई है; अतः सीमन्धर भगवान को 'भवान्तक' विशेषण से संबोधित किया गया है।

(जल)

प्रभुवर तुम जल–से शीतल हो, जल–से निर्मल अविकारी हो।
मिथ्यामल धोने को जिनवर, तुम ही तो मल–परिहारी हो।।
तुम सम्यग्ज्ञान–जलोदधि हो, जलधर अमृत बरसाते हो।
भविजनमनमीन प्राणदायक, भविजनमनजलज खिलाते हो।।
हे ज्ञान–पयोनिधि सीमंधर! यह ज्ञान–प्रतीक समर्पित है।
हो शान्त ज्ञेयनिष्ठा मेरी, जल से चरणाम्बुज चर्चित है।।

शब्दार्थ – परिहारी – दूर करने वाले, **जलोदधि** – समुद्र, **जलधर** – बादल, **मीन** – मछली, **जलज** – कमल, **पयोनिधि** – समुद्र, **ज्ञेयनिष्ठा** – ज्ञेयों में अपनापन, **अंबुज** – कमल, **चर्चित** – पूजित।

संदर्भ – प्रस्तुत जल के छन्द में कवि सीमंधर भगवान को जल के समस्त रूपों से उपमा देते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभु! आप जल के समान निर्मल हो, विकार रहित हो तथा शीतल हो; आप ही मिथ्यात्वरूपी मैल को दूर करने वाले हो; आप ही सम्यग्ज्ञान रूपी जल के समुद्र हो; आप ही अमृत की वर्षा करने वाले बादल हो। हे प्रभो! आप भव्य जीवों के मनरूपी मछली को जीवन देने वाले हो तथा भव्य जीवों के मनरूपी कमल को खिलाने वाले हो।

हे ज्ञान के समुद्र सीमंधर भगवन्! मेरी भावना है कि मेरा ज्ञेय पदार्थों में जो अपनापन है, वह समाप्त हो जावे; इसलिए मैं ज्ञान के प्रतीक स्वरूप जल को आपके चरण कमलों में समर्पित कर आपकी वंदना करता हूँ।

भावार्थ – प्रस्तुत छंद में जल के अनेक रूपों और विशेषताओं को बताकर उनको सीमंधर भगवान पर घटाया गया है। जैसे – जल स्वभाव से शीतल होता है, मैल दूर करता है, जल मछलियों को प्राणदायक है, जल कमल को खिलाता है। समुद्र भी जल का भंडार है व बादल जल के पुंज हैं। सीमंधर भगवान भी जल के समान शीतलता प्रदान करने वाले हैं; मिथ्यात्व मल को दूर करने वाले हैं; ज्ञान के समुद्र हैं; अपनी वाणी से अमृत की वर्षा करते हैं; भव्यजीवों के मन रूपी मछलियों को प्राण देने वाले हैं व उनके मन रूपी कमलों को खिलाने वाले हैं। इस छन्द में सीमंधर भगवान को 'ज्ञानपयोनिधि' विशेषण से संबोधित किया गया है।

(चन्दन)

चन्दन–सम चन्द्रवदन जिनवर, तुम चन्द्र–किरण से सुखकर हो।
भव–ताप निकंदन हे प्रभुवर! सचमुच तुम ही भव–दुखहर हो।।
जल रहा हमारा अन्तःस्तल, प्रभु इच्छाओं की ज्वाला से।
यह शान्त न होगा हे जिनवर, रे! विषयों की मधुशाला से।।
चिर अंतर्दाह मिटाने को, तुमही मलयागिरि चन्दन हो।
चन्दन से चरचूँ चरणांबुज, भवतपहर! शत–शत वंदन हो।।

शब्दार्थ – भवतपहर – संसार का दुःख दूर करने वाले; **चन्द्रवदन** – चंद्रमा के समान मुख वाले, **ताप** – गर्मी और दुःख, **निकंदन** – नष्ट करने वाले, **अन्तःस्तल** – हृदय, **मधुशाला** – शराबघर, **चरचूँ** – पूजा करूँ, **अर्न्तदाह** – हृदय की ज्वाला, **मलयगिरि** – पर्वत का नाम जहाँ का चन्दन प्रसिद्ध है।

संदर्भ – प्रस्तुत छन्द में कवि चन्दन की विशेषताओं को भगवान पर घटाते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – चन्द्रमा के समान मुख वाले हे जिनेन्द्र भगवन्! आप चन्द्रमा की किरणों के समान सुख देने वाले हो तथा आप चन्दन के समान शीतलता प्रदान करने वाले हो। संसार ताप को नष्ट करने वाले हे प्रभो! आप ही हमारे सांसारिक दुःखों का नाश करने वाले हो।

हे जिनेश्वर! मेरा अन्तःस्तल (हृदय) इच्छारूपी अग्नि से जल रहा था, जिसे मैंने विषय–भोगरूपी मधुशाला से शान्त करने का प्रयास किया; किन्तु मेरी इच्छायें शान्त होने के बजाय बढ़ती गईं और मेरे अन्तःस्तल को जलाती रही। इस अंतर्दाह को दूर करने के लिए आप ही मलयागिरि चंदन के समान शीतलता प्रदान करने वाले हो। संसार के ताप को नष्ट करने वाले हे सीमंधर भगवान! शीतलता प्रदान करने वाले इस चन्दन को आपके चरण कमलों में अर्पित कर मैं आपकी बार–बार वंदना करता हूँ।

भावार्थ – इस छन्द में सीमंधर भगवान को विभिन्न अपेक्षाओं से तीन भिन्न–भिन्न विशेषणों से संबोधित किया है। १. चन्द्रवदन २. भवताप–निकंदन ३. भवतपहर।

लोक में गर्मी को दूर करने के लिए दो चीजें प्रसिद्ध हैं– १. चन्द्रमा के उदय से दिन की गर्मी शांत होती है और २. चन्दन लगाने से भी गर्मी से राहत मिलती है। अतः संसारताप दूर करने के लिए सीमंधर भगवान को चन्दन के समान बताया गया है।

(अक्षत)

प्रभु! अक्षतपुर के वासी हो, मैं भी तेरा विश्वासी हूँ।
क्षत–विक्षत में विश्वास नहीं, तेरे पद का प्रत्याशी हूँ।।

अक्षत का अक्षत–संबल ले, अक्षत–साम्राज्य लिया तुमने।
अक्षत–विज्ञान दिया जग को, अक्षत–ब्रह्मांड किया तुमने।।
मैं केवल अक्षत अभिलाषी, अक्षत अतएव चरण लाया।
निर्वाण–शिला के संगम–सा, धवलाक्षत मेरे मन भाया।।

शब्दार्थ – अक्षतपुर – कभी नष्ट न होने वाला नगर मोक्ष (सिद्ध–शिला), **प्रत्याशी** – उम्मीदवार, **अक्षत** – अखंड शुद्धात्मा, **अक्षत संबल** – लगातार बिना रुके अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान कर, **अक्षत साम्राज्य** – कभी नष्ट न होने वाला राज्य, **धवलाक्षत** – उज्ज्वल सफेद चावल।

संदर्भ – इस छन्द में कवि अक्षत के भिन्न–भिन्न अर्थों द्वारा भगवान की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभु! आप अक्षतपुर (कभी नष्ट न होने वाले मोक्ष) के रहने वाले हो, मैं भी आपका श्रद्धालु हूँ, क्षणिक पर्यायों में मेरा विश्वास नहीं है, मैं तो आपके ही पद का उम्मीदवार हूँ। आपने अक्षत आत्मा (अखण्ड आत्मा) का अक्षत ध्यान कर (अंतर्मुहूर्त तक लगातार ध्यान कर) नष्ट न होने वाले साम्राज्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया है।

आपने संसारी प्राणियों को ऐसा ज्ञान दिया जो अक्षत पद की प्राप्ति कराए तथा आपने स्वयं भी पूर्ण शुद्ध स्वभाव पर्याय को प्राप्त कर लिया है। जिसप्रकार निर्वाण शिला का साहचर्य सुख को देने वाला है; उसीप्रकार धवल अक्षत के समान सुख को देने वाला शुद्धात्मा मेरे मन को अच्छा लगने लगा है; अतः अब मैं अक्षत पद को ही प्राप्त करना चाहता हूँ। इसलिये अक्षत (चावल) ही आपके चरणों में अर्पित करने लाया हूँ।

भावार्थ – इस छंद में अक्षत शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है।

'मैं भी तेरा विश्वासी हूँ', 'तेरे पद का प्रत्याशी हूँ', 'मैं केवल अक्षत अभिलाषी' और 'धवलाक्षत मेरे मन माया' आदि पदों द्वारा कवि स्वयं मोक्ष प्राप्ति की अपनी भावना व्यक्त कर रहे हैं।

(पुष्प)

तुम सुरभित ज्ञान-सुमन हो प्रभु, नहिं राग-द्वेष दुर्गंध कहीं।
सर्वांग सुकोमल चिन्मय तन, जग से कुछ भी संबंध नहीं।।
निज अंतर्वास सुवासित हो, शून्यान्तर पर की माया से।
चैतन्य-विपिन के चितरंजन, हो दूर जगत की छाया से।।
सुमनों से मन को राह मिली, प्रभु कल्पवेलि से यह लाया।
इनको पा चहक उठा मन-खग, भर चोंच चरण में ले आया।।

शब्दार्थ – सुरभित – सुगंधित, **सुमन** – फूल, **विपिन** – जंगल, **कल्पवेलि** – कल्पबेल।

संदर्भ – इस छन्द में भगवान को राग-द्वेष रहित बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभो! आप सुगंधित ज्ञानरूपी पुष्प हो, जिसमें राग-द्वेषरूपी दुर्गंध अंशमात्र भी नहीं है। भगवान के चेतनता रूप शरीर के समस्त अंग अत्यन्त कोमल हैं अर्थात् भगवान ज्ञानशरीरी हैं। आपका जगत के पदार्थों से किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। आप तो अपने ही अन्तर में लीनतारूप सुगन्ध से सुगंधित हो, पर के वैभव छल-प्रपंच से रहित हो। जगत् के प्रभाव से अत्यन्त दूर हे भगवन्! आप चैतन्यरूपी जंगल में ही मनोरंजन करनेवाले हो अर्थात् आप अपनी आत्मा के आनन्द में ही मग्न रहते हो।

आप जैसे ज्ञान-सुमनों का आश्रय पाकर मेरे मन को पूर्ण शान्ति प्राप्त हुई है। अतः मैं कल्पबेल सदृश दिव्य पुष्पों से आपकी अर्चना करता हूँ। इनको प्राप्त कर मेरा मनरूपी पक्षी प्रसन्न होकर इन्हें आपके चरणों में समर्पण करने के लिए अपनी चोंच में भरकर लाया है अर्थात् मैं इन्हें अर्पण कर आप जैसा सुमन बनने की भावना भाता हूँ।

भावार्थ – इस छन्द में ज्ञान में पुष्प की कल्पना करते हुए फूल के विशेष गुण कोमलता और सुगन्धता की भगवान में उपस्थिति बताई गई है।

(नैवेद्य)

आनन्द रसामृत के द्रह हो, नीरस जड़ता का दान नहीं।
तुम मुक्त क्षुधा के वेदन से, षट्रस का नाम–निशान नहीं।।
विध–विध व्यंजन के विग्रह से, प्रभु भूख न शांत हुई मेरी।
आनन्द सुधारस निर्झर तुम, अतएव शरण ली प्रभु तेरी।।
चिर–तृप्ति–प्रदायी व्यंजन से, हो दूर क्षुधा के अंजन ये।
क्षुत्पीड़ा कैसे रह लेगी? जब पाये नाथ निरंजन से।।

शब्दार्थ – द्रह – सरोवर, **विग्रह** – सेवन, **सुधारस** – अमृतरस, **क्षुत्पीड़ा** – भूख का कष्ट, **निरंजन** – कर्मों से रहित।

संदर्भ – प्रस्तुत नैवेद्य के छन्द में भगवान को भूख–प्यास की वेदना से रहित बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभो! आप तो आनन्द रसरूपी अमृत के सरोवर हो; अतः आनन्द रस रहित जड़ पदार्थों का दान आप कैसे कर सकते हो? आप तो भूख–प्यास की वेदना से रहित हैं; अतः षट्रस व्यंजनों से भी आपको क्या प्रयोजन? मैंने भी अब तक अनेक प्रकार के भौतिक व्यंजनों का सेवन किया, फिर भी उनसे मेरी भूख शांत नहीं हुई।

आपके पास तो आनन्दरूपी अमृत के ऐसे झरने हैं जो चिरकाल तक तृप्ति देने वाले व्यंजन प्रदान कर सकते हैं। जिनसे मेरी भूख की पीड़ा दूर हो सकती है; अतः मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ; क्योंकि जब मैंने आपके जैसे कर्मों से रहित भगवान को पा लिया है, तो फिर मुझे भूख की पीड़ा कैसे सतायेगी?

भावार्थ – इस पद्य में कवि कहना चाहते हैं कि – सुख गुण चेतन में हैं, अचेतन में नहीं; अतः आनन्द की प्राप्ति आत्मा से, आत्मा में ही होगी; पुद्गल पदार्थों की उपलब्धि से नहीं।

(दीप)

चिन्मय–विज्ञान–भवन अधिपति, तुम लोकालोक प्रकाशक हो।
कैवल्य–किरण से ज्योतित प्रभु! तुम महामोहतम नाशक हो।।
तुम हो प्रकाश के पुंज नाथ! आवरणों की परछांह नहीं।
प्रतिबिंबित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं।।
ले आया दीपक चरणों में रे! अंतर आलोकित कर दो।
प्रभु तेरे मेरे अन्तर को, अविलंब निरंतर से भर दो।।

शब्दार्थ – चिन्मय – चेतना, **भवन** – महल, **महामोहतम** – गहन मोहरूपी अंधकार, **ज्ञेयावलि** – जानने योग्य पदार्थों की पंक्ति।

संदर्भ – प्रस्तुत छन्द में कवि अज्ञान अंधकार को दूर करने वाले और ज्ञान का प्रकाश करने वाले भगवान को प्रकाश का समूह बताते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभु! आप चेतना रूपी विज्ञान–भवन के स्वामी हो। आप लोकाकाश और अलोकाकाश को प्रकाशित करने वाले हो; अर्थात् जानते हो। केवलज्ञानरूपी किरणों से ज्योतिर्मान हे प्रभो! आप तो महा मोहरूपी अंधकार का नाश करने वाले हो। हे प्रकाश के पुंज (समूह) भगवान! आपमें कर्म के आवरणों की परछाईं (अंश) भी नहीं हैं अर्थात् आप कर्मों से रहित हो।

आपके ज्ञानरूपी दर्पण में सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ प्रकाशित होते हैं; किन्तु इससे आपके चैतन्य स्वरूप पर कुछ फर्क नहीं पड़ता अर्थात् आप सर्वज्ञ होने से संपूर्ण अच्छी–बुरी घटनाओं के जानकार होते हुए

भी उनसे अलिप्त रहते हो। मैं इस जड़ दीपक को आपके चरणों में अर्पित कर भावना भाता हूँ कि आप मेरे अंतस्तल को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर दो तथा आपके और मेरे बीच में जो अन्तर है, उसे आप तुरन्त ही दूर कर दो अर्थात् मैं भी आप जैसा भगवान बन आपके साथ विराजमान हो जाऊँ।

भावार्थ – यहाँ पर कवि भक्त व भगवान के अन्तर को दूर कर स्वयं भगवान बनने की कामना कर रहा है।

(धूप)

धू–धू जलती दुःख की ज्वाला, प्रभु त्रस्त निखिल जगतीतल है।
बेचेत पड़े सब देही हैं, चलता फिर राग प्रभंजन है।।
यह धूम घूमरी खा–खाकर उड़ रहा गगन की गलियों में।
अज्ञानतमावृत चेतन ज्यों, चौरासी की रंग–रलियों में।।
संदेश धूम का तात्त्विक प्रभु, तुम हुये ऊर्ध्वगामी जग से।
प्रगटे दशांग प्रभुवर तुम को, अंतः दशांग की सौरभ से।।

शब्दार्थ – त्रस्त – दुःखी, **जगतीतल** – पृथ्वी पर रहने वाले, **बेचेत** – बेहोश, **प्रभंजन** – आंधी, **तमावृत** – अंधकार से ढंके हुए, **धूम** – धुआँ।

संदर्भ – प्रस्तुत छंद में कवि भगवान के उर्ध्वगामी स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभो! संसार के समस्त प्राणियों के अन्तःस्तल में दुःख की तेज अग्नि जल रही है; जिससे संसार के समस्त प्राणी दुःखी हैं। ऐसे में जब राग की तेज आँधी चलती है, तो दुःख की ज्वाला और भड़क उठती है; जिससे सभी देहधारी जीव बेहोश हो जाते हैं। जिसप्रकार धुआँ घुमड़–घुमड़ कर आसमान में उड़ता रहता है; उसीप्रकार अज्ञान रूपी आवरण से युक्त जीव चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं।

हे प्रभो! आपने अपने अंतरंग में होनेवाले उत्तमक्षमादि दशधर्मों की सुगंध से बाह्य में भी दश–धर्मों को प्रगट कर लिया है तथा आप जगत से ऊपर जाकर लोक के अग्रभाग में विराजमान हो गए हैं। आसमान में ऊपर जाता हुआ धुआँ भी हमें यही तात्त्विक संदेश दे रहा है कि आप जगत के प्रपंच से दूर होने के लिए ही मानो अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव द्वारा लोक के अग्रभाग में विराजमान हो गए हैं।

भावार्थ – इसमें कवि ने भगवान के वीतरागी स्वरूप पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

(फल)

शुभ–अशुभ वृत्ति एकांत दुःख, अत्यन्त मलिन संयोगी है।
अज्ञान विधाता है इनका, निश्चित चैतन्य विरोधी है।।
काँटों सी पैदा हो जाती, चैतन्य सदन के आंगन में।
चंचल छाया की माया सी, घटती क्षण में बढ़ती क्षण में।।
तेरी फल–पूजा का फल प्रभु! हों शांत शुभाशुभ ज्वालायें।
मधुकल्प फलों सी जीवन में प्रभु! शांति लतायें छा जावें।।

शब्दार्थ – शुभ–अशुभवृत्ति – शुभ–अशुभ भाव, **एकांत** – एकमात्र, **विधाता** – उत्पन्न करने वाला, बनाने वाला, **सदन** – भवन।

संदर्भ – प्रस्तुत छंद में शांति प्राप्ति की कामना करते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – शुभ–अशुभ भाव आत्मा को एकमात्र दुःख देने वाले भाव हैं। ये भाव संयोगी भाव हैं, अत्यन्त मलिन हैं और आत्मा के विरोधी भाव हैं। अज्ञान इनका विधाता है; बनाने वाला है, उत्पन्न करने वाला है। ये वृत्तियाँ चैतन्यरूपी मकान के आँगन में कांटों के समान स्वतः पैदा हो जाती हैं तथा चंचल छाया की माया के समान क्षण भर में कम हो जाती हैं व क्षण भर में बढ़ जाती हैं अर्थात् जिसप्रकार हमारी परछाईं पल–पल में छोटी–बड़ी होती रहती है, वैसे ही शुभाशुभ भाव पल–पल में बदलते रहते हैं।

अब मैं आपकी पूजा का यह फल चाहता हूँ कि ये शुभाशुभ भावरूपी ज्वालाएँ शांत हो जाएँ और मेरे जीवन में कल्पवृक्षों के फलों के समान शांति की बेलें छा जाएँ। मैं आपकी पूजा के फलस्वरूप यही कामना करता हूँ।

भावार्थ – हमारे दुःख के कारण शुभ–अशुभ भाव ही हैं, जो कि हमारे ही अज्ञान से उत्पन्न होते हैं और हमें निरन्तर कांटों के समान चुभन (कष्ट) देते रहते हैं। जिनके नाश की भावना यहाँ कवि ने भाई है।

(अर्घ्य)

निर्मल जल–सा प्रभु निज स्वरूप, पहचान उसी में लीन हुए।
भवताप उतरने लगा तभी, चंदन–सी उठी हिलोर हिये।।
अभिराम–भवन प्रभु अक्षत का, सब शक्ति–प्रसून लगे खिलने।
क्षुत–तृषा अठारह दोष क्षीण, कैवल्य–प्रदीप लगा जलने।।
मिट चली चपलता योगों की, कर्मों के ईंधन ध्वस्त हुए।
फल हुआ प्रभो! ऐसा मधुरिम, तुम धवल निरंजन स्वस्थ हुए।।

शब्दार्थ – अभिराम – सुन्दर, **प्रसून** – फूल, **क्षुत्** – भूख, **तृषा** – प्यास, **अर्घ्य** – मूल्य, कीमत।

संदर्भ – प्रस्तुत छन्द में आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभो! निर्मल जल के समान अपने शुद्धात्म स्वरूप को पहिचान कर आप उसमें लीन हो गए। इससे आपका सांसारिक दुःख दूर होने लगा और अन्तर में चन्दन की शीतलता के समान आनन्द की हिलोरें उठने लगी। भूख–प्यास आदि अठारह दोष नष्ट होकर अनन्त चतुष्टयरूप शक्ति के फल प्रगट हो गए तथा केवलज्ञानरूपी दीपक जलने लगा। धीरे–धीरे योगों की चंचलता भी समाप्त होने

लगी व आठों कर्म नष्ट हो गए। फलस्वरूप आप अपने कर्म कालिमा रहित शुद्धरूप में अर्थात् स्व में स्थित हो गए और आप कभी नष्ट न होने वाले सुन्दर निज भवन में रहने लगे।

भावार्थ – इस अर्घ्य के छन्द में आठों द्रव्यों के नामों के आधार पर मुक्तिमार्ग की पूरी प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया है।

जयमाला

(दोहा)

वैदेही हो देह में, अतः विदेही नाथ।
सीमंधर निज–सीम में, शाश्वत करो निवास ।। १ ।।

शब्दार्थ – वैदेही – देह से निर्लिप्त हो। **विदेही** – विदेह क्षेत्र में रहने वाले।

संदर्भ – इस पद्य में सीमंधर स्वामी के विदेही और सीमंधर नामों की सार्थकता बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे विदेहवासी तीर्थंकर भगवान! आप देह में रहकर भी देह के ममत्व से रहित हो, इसलिए आपका विदेही नाम सार्थक ही है।

आप हमेशा अपनी सीमा में ही रहते हो। इसलिए सीमा को धारण करने वाले आपका सीमंधर नाम भी सार्थक ही है। आप अपनी उसी सीमा में शाश्वत (हमेशा) निवास करते रहें।

श्री जिन पूर्व विदेह में, विद्यमान अरहंत।
वीतराग सर्वज्ञ श्री, सीमंधर भगवंत ।।२।।

संदर्भ – इस पद्य में सीमंधर भगवान की वर्तमान उपस्थिति को बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – पूर्व विदेह क्षेत्र में वीतरागी सर्वज्ञ सीमंधर अरहंत परमात्मा आज भी विद्यमान हैं।

(पद्धरि)

हे ज्ञानस्वभावी सीमंधर, तुम हो असीम आनन्द रूप।
अपनी सीमा में सीमित हो, फिर भी हो तुम त्रैलोक्य भूप ।। ३ ।।

संदर्भ – इस पद्य में भगवान के सुख स्वरूप को बताते हुये कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे ज्ञान स्वभाव में लीन रहने वाले सीमंधर भगवन्! आप अपार आनन्द स्वरूप हो। यद्यपि आप अपनी सीमा में ही रहते हैं, फिर भी आप तीनों लोकों के अधिपति हैं।

मोहान्धकार के नाश हेतु, तुम ही हो दिनकर अति प्रचंड।
हो स्वयं अखंडित कर्म–शत्रु को, किया आपने खंड–खंड ।। ४ ।।

संदर्भ – इस पद्य में सीमंधर भगवान की कर्म रहितता को बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – मोह रूपी अंधकार को नाश करने के लिए आप अत्यधिक तेजस्वी सूर्य के समान हो। यद्यपि आप स्वयं अखंड आत्मा में विलीन हैं, फिर भी आपने कर्मरूपी शत्रु को खण्ड–खण्ड कर दिया है।

उक्त छन्दों में सीमन्धर भगवान का स्वरूप विरोधाभास अलंकार द्वारा बताया गया है।

गृहवास राग की आग त्याग, धारा तुमने मुनिपद महान।
आतम–स्वभाव साधन द्वारा, पाया तुमने परिपूर्ण ज्ञान ।। ५ ।।

संदर्भ – इस पद्य में गृहस्थ–अवस्था से अरहंत बनने की प्रक्रिया बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – घर में रहने के रागरूपी आग का त्याग कर आपने महान मुनिपद धारण कर आत्म–स्वभाव की साधना करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति की।

तुम दर्शनज्ञान–दिवकार हो, वीरज मंडित आनन्दकंद।
तुम हुए स्वयं में स्वयं पूर्ण, तुम ही हो सच्चे पूर्ण चन्द ।। ६ ।।

संदर्भ – इस पद्य में भगवान की पूर्णता प्राप्ति का उल्लेख करते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – आप तो दर्शन–ज्ञानरूपी सूर्य हो; अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य से युक्त हो और कर्मकलंक रहित पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान आप भी अपने आप में स्वयं पूर्ण हो।

पूरब विदेह में हे जिनवर, हो आप आज भी विद्यमान।
हो रहा दिव्य उपदेश, भव्य पा रहे नित्य अध्यात्म ज्ञान।। ७ ।।

संदर्भ – इस पद्य में सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि की विशेषता बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे सीमंधर भगवान! आप पूर्व विदेह क्षेत्र में आज भी विद्यमान हैं। वहाँ अभी भी आपका दिव्य उपदेश हो रहा है, जिससे भव्य जीव निरन्तर अध्यात्म का ज्ञान पा रहे हैं अर्थात् उनकी दिव्यध्वनि अभी भी खिर रही है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव को, मिला आपसे दिव्य ज्ञान।
आत्मानुभूति से कर प्रमाण, पाया उनने आनन्द महान।। ८ ।।

संदर्भ – इस पद्य में सीमंधर भगवान की महिमा बताते हुए भरतक्षेत्र के आचार्य का उल्लेख करते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – आचार्य कुन्दकुन्द देव ने भी आपके वचनामृत का पान किया है। अपनी आत्मानुभूति से उसे प्रमाणित पाकर उन्हें महान आनन्द की प्राप्ति हुई थी।

पाया था उनने समयसार, अपनाया उनने समयसार।
समझाया उनने समयसार, हो गये स्वयं वे समयसार।। ९ ।।

संदर्भ – इस पद्य में आचार्य कुन्दकुन्द की महिमा बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – उन्होंने शुद्धात्मा को प्राप्त किया था, अपने जीवन में शुद्धात्मा को ही अपनाया था। शुद्धात्मा का प्रतिपादन करने वाले

समयसार ग्रन्थ को ही आपने समझाया था और आप स्वयं भी समयसारमय (शुद्धात्ममय) हो गए थे।

दे गये हमें वे समयसार, गा रहे आज हम समयसार।
है समयसार बस एक सार, है समयसार बिन सब असार।। १० ।।

संदर्भ – इस पद्य में आचार्य कुन्दकुन्द रचित समयसार ग्रंथ की महिमा बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने हमें समयसार नामक ग्रन्थ दिया। आज हम उस समयसार को ही गा रहे हैं। जीवन में सार वस्तु बस एक समयसार ही है, समयसार के बिना सब वस्तुएँ असार हैं; व्यर्थ हैं।

मैं हूँ स्वभाव से समयसार, परणति हो जावे समयसार।
है यही चाह, है यही राह, जीवन हो जावे समयसार।। ११ ।।

संदर्भ – इस पद्य में कवि अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहते हैं कि–

अर्थ – मैं स्वभाव से समयसार (शुद्धात्मा) हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरी परिणति भी समयसारमय (शुद्धात्मामय) हो जावे। बस मेरी तो यही इच्छा है, यही कामना है कि मैं इसी राह (मार्ग) पर चलता रहूँ और मेरा जीवन समयसार (शुद्धात्मा) मय हो जावे।

(सोरठा)

समयसार है सार, और सार कुछ है नहीं।
महिमा अपरम्पार, समयसारमय आपकी।। १२ ।।

संदर्भ – इस पद्य में कवि समयसार की महिमा बताते हुए कहते हैं कि–

अर्थ – इस जीवन में सुख की प्राप्ति के लिए समयसार ही सारभूत है और कुछ सारभूत नहीं। हे सीमंधर भगवन्! आप भी समयसारमय हो; समयसारमय (शुद्धात्मामय) आपकी महिमा अपरंपार है, अवर्णनीय है।

●

2 सात तत्त्वों संबंधी भूलें

यह पाठ आचार्यकल्प पंडित टोडरमल जी द्वारा रचित मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार के आधार पर लिखा गया है।

इससे पूर्व हम तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखी गई सात तत्त्व संबंधी सामान्य जानकारी वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-1 में पढ़ चुके हैं और सात तत्त्व संबंधी भूलों की सामान्य जानकारी वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-2 में पढ़ चुके हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सात तत्त्व जिन आगम का ऐसा महत्वपूर्ण विषय है, जिसका स्वरूप समझे बिना दुःखों से मुक्ति संभव नहीं, मुक्ति मार्ग पर चलना संभव नहीं। यही कारण है कि सात तत्त्व और तत्संबंधी भूलों की चर्चा छोटे से छोटे ग्रंथ से लेकर बड़े से बड़े समयसार तक में की गई है।

सात तत्त्व संबंधी भूलें हमारे जीवन में न हों, इसके लिए इनका स्वरूप जानना आवश्यक है। सभी जीवों के अनादिकाल से होने वाली भूलों की सामान्य जानकारी वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-2 में दी गई है। उन्हीं भूलों की विशेष जानकारी इस पाठ में दी जा रही है। दूसरे शब्दों में कहें तो अजैनी अगृहीत मिथ्यादृष्टि की चर्चा वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-2 में की गई है और जैनी शास्त्राभ्यासी अगृहीत मिथ्यादृष्टि की चर्चा इस पाठ में की गई है।

वस्तु के सच्चे स्वरूप को तत्त्व कहते हैं। इस दृष्टि से जितनी वस्तुएँ हैं, उतने ही तत्त्व हैं; किंतु उनमें प्रयोजभूत तत्त्व सात ही हैं।

अनादिकाल से जीवों को उक्त सातों तत्त्वों संबंधी उल्टी (विपरीत) मान्यता (विपरीताभिनिवेश) रहती है, जो कि इतनी गहराई से अंदर तक समाई हुई है कि शास्त्रों द्वारा उनका सही स्वरूप

जान लेने पर भी, वह ज्ञान शब्दों तक ही सीमित रह जाता है, अंतरंग में उनका भिन्नपने भावभासन नहीं हो पाता है। शास्त्रों को पढ़कर भी अंतरंग में रह जाने वाली उन्हीं भूलों को इस पाठ में बताया गया है।

जीव–अजीव तत्त्व संबंधी भूलें –

अनादिकाल काल से इस जीव ने इस शरीर के साथ ही अपने को देखा है, अतः कोई तो आत्मा और शरीर को एक मान लेते हैं और कोई शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर और तत्संबंधी पर पदार्थों में अपनापन करते रहते हैं। आत्मा व शरीर का सही स्वरूप न जानने के कारण अनादिकालीन अज्ञानी जीव की जीव–अजीव के संबंध में ये भूलें होती रहती हैं।

अब **शास्त्रों को पढ़ कर जीव–अजीव** का स्वरूप समझने पर भी संसारी जीवों से निम्न प्रकार की भूलें हो सकती हैं–

1. जैन शास्त्रों में वर्णित............ कथन को नहीं पहचाना।[1]

जैन दर्शन में आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन, भिन्न–भिन्न प्रकार से किया गया है। जैसे – आत्मा की संसारी अवस्था को इंद्रियों की अपेक्षा दो भागों में बाँटा गया है– स्थावर और त्रस। एक इंद्रिय जीवों को **स्थावर** कहते हैं और दो से पाँच इंद्रिय तक के सभी जीवों को **त्रस** कहते हैं।

मोह और योग के निमित्त से होने वाली जीव की अवस्था विशेष को **गुणस्थान** कहते हैं। जो 14 होते हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र आदि इसके भेद हैं।

जीव जिन भावों या पर्यायों द्वारा खोजे जाते हैं, उन्हें **मार्गणास्थान** कहते हैं। ये भी 14 होते हैं। गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद आदि इसके भेद हैं।

---

1. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग–1, पाठ–2, पृष्ठ–9

अजीव के पाँच भेद हैं - पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल। रूप (वर्ण), रस, गंध, व स्पर्श पुद्गल के गुण हैं तथा शब्द पुद्गल की पर्याय है।

भेदविज्ञान अर्थात् भेद करके विशेष प्रकार से जानना। प्रश्न उठता है- किसका भेद करना और किसे जानना?

जीव व अजीव का भेद करना, आत्मा व शरीर का भेद करना। इन दोनों का सही स्वरूप जानकर, द्रव्य-गुण-पर्याय से इन्हें पहचान कर आत्मा में 'यह ही मैं हूँ'- ऐसा विशेष ज्ञान और शरीर में 'ये मैं नहीं हूँ' - ऐसा विशेष ज्ञान ही भेदविज्ञान है। उक्त प्रकार से जीव व अजीव में भेद करके विशेष प्रकार से जानना ही 'भेदविज्ञान' है।

आत्मा को स्व जानने पर आत्मा में अपनापन होता है और शरीर को पर जानने पर शरीर में परायापन सहज होता है। शरीर में परायापन होने पर उसके प्रति धीरे-धीरे राग कम होता जाता है और वीतराग दशा बढ़ती जाती है।

भेदविज्ञान के अतिरिक्त अनेकों अन्य सिद्धांत भी हैं, जिनको समझने पर वीतरागता में वृद्धि होती है। जैसे- प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है, निश्चित है; एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ नहीं कर सकता, करता नहीं। मैं भी किसी पर में कुछ नहीं कर सकता, पर भी मेरा कुछ भला-बुरा नहीं कर सकता आदि। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अकर्तावाद, निमित्त-उपादान आदि प्रयोजनभूत सिद्धांतों के सही स्वरूप को नहीं जानता है।

जिसप्रकार यदि कोई कहे कि मेरा बेटा दिन-रात पढ़ता रहता है, पर फिर भी स्कूल में फेल हो जाता है; जबकि बुद्धिमान भी बहुत है। उसे सब बातें बहुत जल्दी याद हो जाती हैं। जब छानबीन की तो पता चला, वह तो उपन्यास पढ़ता रहता है। अब आप ही बताइए जो लड़का प्रयोजनभूत स्कूल की पढ़ाई तो करे नहीं और अप्रयोजनभूत दिन-रात पढ़ता रहे, तो क्या वह स्कूल में पास हो सकता है? नहीं न! उसीप्रकार कुछ जीव शास्त्रों को पढ़कर अप्रयोजनभूत जानकारी

तो बहुत कर लेते हैं, परंतु प्रयोजनभूत थोड़ा भी नहीं जानते हैं।

संक्षेप में कहें तो **शास्त्रों को नहीं पढ़ने वाला अनादिकालीन अज्ञानी जीव** भी आत्मा व शरीर का सही स्वरूप नहीं समझता, सात तत्त्वों का सही स्वरूप नहीं समझता और **शास्त्रों को पढ़ने वाला भी** बाह्य इंद्रिय आदि संबंधी भेद समझने पर भी आत्मा व शरीर का मूलभूत अंतर नहीं समझता।

इस प्रथम पॉइंट में अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के वस्तु स्वरूप को जानने व न जानने संबंधी भूल की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है।

मिथ्यादृष्टि जीव का शास्त्रों को पढ़कर अप्रयोजनभूत विषय संबंधी अज्ञान तो दूर हुआ, पर राग कम नहीं हुआ; क्योंकि उसने वीतराग दशा के कारणभूत मूल सिद्धांतों को जाना नहीं, पहिचाना नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि **आत्मा सहित शरीर की त्रस-स्थावर आदि पर्यायों को जीव मानना जीव तत्त्व संबंधी भूल है और अजीव के भेद व पर्यायों को जानते हुए भी शरीर को जीव मानना, अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।**

2. यदि प्रसंगवश उन्हें जान भी ले.......सच्चा श्रद्धान नहीं करता।[1]

प्रसंगवश = परिस्थितिवश सुनना, बुद्धिपूर्वक नहीं सुनना। जैसे आपने सोच-समझ कर परमागम ऑनर्स ज्वाइन किया, वैसे नहीं; अपितु कभी किसी के साथ मंदिर जाने पर प्रवचन में कोई बात सुन लेना अर्थात् सोच-समझकर व्यवस्थित रूप से किसी कक्षा या प्रवचन आदि को नहीं सुनना तथा किसी भी प्रकार के आयोजन में जाने पर कुछ शास्त्र की बातें कानों में पड़ना जैसे- पयुर्षण में मंदिर जाने पर अथवा तीये की बैठक में जाने पर प्रवचन, भजन आदि सुनना।

इसप्रकार प्रसंगवश शास्त्रानुसार जानना, किन्तु उसपर विचार नहीं करना। विचार नहीं होने पर श्रद्धान नहीं होता; क्योंकि जानकर, विचारकर निर्णय पर पहुँचने पर ही श्रद्धान होता है।

1. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-1, पाठ-2, पृष्ठ-9

यहाँ 'उन्हें' का अर्थ भेदविज्ञान और वीतराग दशा होने के कारणभूत कथन हैं।

अज्ञानी जीव पर का अंश अपने में मिलाते हुए मान लेता है कि पैसा ही जीवन है और पैसा न होने पर आत्महत्या तक कर लेता है। जबकि जीव का जीवन तो चेतनता से है, ज्ञान-दर्शन से है। इसीप्रकार ज्ञान-आनंद अपना अंश है, आत्मा का स्वभाव है; उसे पर में मिलाते हुए पर में आनंद मानता है, इंद्रियों से जानना मानता है। इसप्रकार अपने अंश को पर में मिलाना जीव तत्त्व संबंधी भूल है और पर का अंश अपने में मिलाना अजीव तत्त्व संबंधी भूल है। अज्ञानी जीव अपने सही स्वरूप को न जानता हुआ, अपने को आपरूप न मानता हुआ उक्त भूल करता है।

3. अन्य मिथ्यादृष्टियों के समान.....क्रियाओं में अपनत्व मानता है।[1]

''अन्य मिथ्यादृष्टि'' अर्थात् शास्त्रज्ञान रहित मिथ्यादृष्टि। यह भी अर्थात् शास्त्रों को पढ़ने वाला मिथ्यादृष्टि भी। छूना, चखना, सूँघना, देखना व सुनना- आदि क्रियाएँ आत्मा के आश्रित क्रियाएँ हैं;क्योंकि आत्मा रहित शरीर में यह क्रियाएँ नहीं होती हैं, क्षयोपशमज्ञान में ही उक्त क्रियायें होती हैं।

उपदेश देना भाषा वर्गणा का कार्य होने से पुद्गलाश्रित क्रिया है। इसीप्रकार भोजन करना या ना करना (उपवास, एकासन) आदि क्रियाएँ भी पुद्गल के आश्रित क्रियाएँ हैं।

आत्मा का स्वभाव पूर्ण ज्ञानमय है, केवलज्ञानमय है। उसे न जानकर कर्मों के उपशम, क्षयोपशम व क्षय से होने वाली क्षयोपशम ज्ञानमय अपूर्ण पर्याय में ही अपनत्व करना जीव तत्त्व संबंधी भूल है। जैसे- मैं बड़ा विद्वान हूँ, मैं वकील हूँ, मैं डॉक्टर हूँ आदि।

इसीप्रकार शरीराश्रित उपदेश व उपवास आदि क्रियाओं को करते हुए उनमें अपनत्व बुद्धि ही अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

---

1. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-1, पाठ-2, पृष्ठ-9

4. शास्त्रानुसार आत्मा की.......आत्मा को भिन्न बताता है।[1]

चौथे पॉइंट में उस अज्ञानी की बात है जो शास्त्रों को पढ़ता भी है और शास्त्रानुसार चर्चा भी करता है, शरीरादि को आत्मा से भिन्न भी बताता है; किन्तु इस पूरी चर्चा-वार्ता में उसे शरीर में परायेपन की और आत्मा में अपनेपन की फीलिंग नहीं होती। इसप्रकार बातें करता है, मानो तीसरे व्यक्ति की बात कर रहा हो,पड़ोसी की बात कर रहा हो। जैसे- मेरी आत्मा में अशांति है तथा शरीर की बातें ऐसे करता है,जैसे वह खुद हो। जैसे- मैं मोटा हूँ, गोरा हूँ आदि।

5. जीव और पुद्गल के........भावभासित नहीं होता।[2]

जीव अजीव तत्त्व संबंधी भूल को ही पाँचवे पॉइंट में उदाहरण देकर समझाते हुए कहा गया है कि-अज्ञानी उक्त सभी क्रियाएँ (सुनना, देखना आदि व उपदेश, उपवास आदि) को जीव व पुद्गल की सम्मिलित क्रियाएँ मानता है, जबकि ऐसा नहीं है; क्योंकि जानना जीव की क्रिया है, पुद्गल की नहीं। पुद्गल उस क्रिया में मात्र निमित्त है। उपवास आदि पुद्गल की क्रिया है, जीव उसमें निमित्त है। इसीप्रकार जीव पुद्गल में परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं। उनमें जीव की क्रिया को पुद्गल की मानना जीव तत्त्व संबंधी भूल है और अजीव की क्रिया को जीव की मानना अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

उक्त प्रकार से अपने में परपने का व्यवहार ही इसकी जीव तत्त्व संबंधी भूल है और शरीर में अपनेपन का व्यवहार अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उक्त सभी भूलों के वर्णन में एक क्रमिक विकास है। इनमें सर्वप्रथम उस अज्ञानी की बात की गई है, जिसने जैन शास्त्र में अप्रयोजनभूत विषय बहुत पढ़े हैं, पर प्रयोजनभूत से सर्वथा अनभिज्ञ है, अपरिचित है।

---

1. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-1, पाठ-2, पृष्ठ-9
2. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-1, पाठ-2, पृष्ठ-9

दूसरे में अनिच्छापूर्वक प्रयोजनभूत सिद्धांतों को जानने-सुनने की बात की गई है।

तीसरे स्टेप पर कहा है कि इच्छापूर्वक सुनने पर भी अंतरंग में सही निर्णय नहीं हुआ। जब तक अंतरंग में सही निर्णय नहीं होगा, तब तक भूलें होती रहेंगी। जब तक भूलें होती रहेंगी, तब तक प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी। अतः प्रत्येक सुखार्थी को प्रयोजनभूत सुनकर, समझकर, पहचानकर निर्णय करना है कि ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ, शेष सब पर हैं। ऐसा जानना ही तत्त्व का सही स्वरूप समझना है।

आस्रव तत्त्व संबंधी भूल –

1. बंध के दो कारण हैं- अशुभास्रव व शुभास्रव। अशुभास्रव से पापों का बंध होता है और शुभास्रव से पुण्य का बंध होता है। यद्यपि बंध का कारण होने से अशुभास्रव के समान शुभास्रव भी हेय ही है; तथापि अज्ञानी जीव अज्ञानवश शुभास्रव को उपादेय मान लेता है। बंध के कारणों में उपादेयपना होना ही मिथ्यापना है।

2. निर्बन्ध दशा तो एकमात्र वीतरागी दशा ही है। जब जीव शुभ-अशुभ सभी में समान रूप से ज्ञाता-दृष्टा रहता है, तब ही बंध का अभाव होता है। ज्ञानी जीव भी यद्यपि अशुभ से बचने के लिए शुभ में प्रवृति करते हैं, तथापि उसे बंध का कारण मानते हुए हेय ही मानते हैं।

3. संक्षेप में कहें तो शुभभाव करने या न करने से मिथ्यादृष्टि नहीं होते, किंतु शुभभावों को उपादेय मानने से मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। अतः सर्वप्रथम शुभभाव को उपादेय मानना छोड़ना चाहिए।

4. आस्रव के चार हेतु (कारण) हैं :- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

अज्ञानी जीव इनके अंतरंग स्वरूप को नहीं जानते हुए, उनके बाह्य रूप को ही आस्रव मान लेता है। जैसे- बच्चे अपराधियों के अंतरंग रूप को तो जानते नहीं हैं और बाह्य मीठे व्यवहार से आकर्षित होकर उनके चंगुल में फँस जाते हैं।

(क) मिथ्यात्व – आत्मा संबंधी विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– अगृहीत मिथ्यात्व व गृहीत मिथ्यात्व। जो बिना सिखाए अनादिकाल से शरीरादि पर पदार्थों में अहंबुद्धि है, वह अगृहीत मिथ्यात्व है और कुदेव, कुगुरु व कुशास्त्र के उपदेशादि से अनादिकाल से चली आई मिथ्या मान्यता की पुष्टि होना ही गृहीत मिथ्यात्व है। जैसे– महावीर जी में भगवान महावीर की पूजा–अर्चना करने से संतान सुख प्राप्त होता है। यह वीतराग देव में राग की कल्पना करने रूप गृहीत मिथ्यात्व है। कुछ जीव इस गृहीत मिथ्यात्व को ही मिथ्यात्व जानते हैं व अगृहीत मिथ्यात्व को नहीं पहचानते हैं।

(ख) अविरति – अव्रतरूप विकारी भावों को अविरति कहते हैं अर्थात् बाह्य में व्रत आदि के धारण न करना ही अविरति है। प्रमादवश जीव व्रत धारण नहीं कर पाता है। अविरति कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। कषायों के वश होकर जीव हिंसादि पापों को करता है, अतः हिंसादि पापों का मूल (मुख्य कारण) प्रमाद है तथा इच्छा के वश हो जीवों की पंचेन्द्रिय के विषय भोगों में प्रवृत्ति होती है, अत: विषय सेवन में अभिलाषा मूल कारण है। इसप्रकार सही वस्तु स्वरूप न जानते हुए मात्र बाह्य हिंसा व पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रवृति को अविरति मानता है।

(ग) कषाय – जो आत्मा को कसे (दु:ख दे), उसे कषाय कहते हैं। अज्ञानी जीव कषायों का स्वरूप भी सही नहीं समझता। मात्र बाह्य में गुस्सा आदि को ही कषाय मानता है और प्रेम आदि करने को अच्छा मानता है, जबकि सभी कषायें राग–द्वेष में शामिल हो जाती हैं, जिन्हें वह नहीं पहचानता।

(घ) योग – आत्मानुभवपूर्वक मन–वचन–काय की प्रवृत्ति न होना ही सच्चा योग है; जबकि अज्ञानी मात्र बाह्य मन, वचन, काय की प्रवृति रोकने को ही योग मानता है। अंतरंग शक्तिभूत योग को नहीं पहचानता। अंतरंग में उत्पन्न होने वाले मोह–राग–द्वेष भाव ही वास्तव में आस्रव भाव हैं। इनकी पहिचान नहीं है; अतः आस्रव तत्त्व का भी सही श्रद्धान नहीं होने से उस संबंधी भूलें होती रहती हैं।

संक्षेप में कहे तो **शुभ बंध के कारण, पुण्य बंध के कारण को उपादेय मानना आस्रव तत्त्व संबंधी भूल है।** जैसे- दया, दान, तप, पूजा, व्रत, उपवास आदि क्रियाओं को ही धर्म मान लेना और उन्हें सर्वथा उपादेय समझकर करना ही आस्रव तत्त्व संबंधी भूल है।

उक्त सभी क्रियाएँ शुद्ध भावों की अपेक्षा हेय हैं और अशुद्ध भाव (पुण्य-पाप भावों) की अपेक्षा उपादेय हैं- इसप्रकार पुण्य भाव कथंचित् हेय व कथंचित् उपादेय हैं- ऐसा मानना आस्रव तत्त्व संबंधी सही समझ है।

बंध तत्त्व संबंधी भूल –

पुण्य बंध के फल, शुभ भावों के फल को उपादेय मानना बंध तत्त्व संबंधी भूल है। जैसे- पुण्य के फल स्वरूप प्राप्त होने वाली देवादि पर्यायों में सुखबुद्धि कर उन्हें उपादेय मानना।

भाव दो प्रकार के होते हैं- शुद्ध भाव व अशुद्ध भाव। पुण्य-पाप अशुद्ध भाव कहलाते हैं। इनमें पाप भावों को तो सभी हेय मानते हैं, किंतु अनुकूल सामग्री प्राप्त होने के कारणभूत शुभ भावों (पुण्य क्रियाओं) को और उनके फल को उपादेय मान लेते हैं;जबकि पुण्य-पाप का भेद तो अघातिया कर्मों में है, अघाति कर्म आत्म गुण के घातक नहीं है।

शुभ-अशुभ भावों में घाति कर्मों का तो निरंतर बंध होता है, वे सभी पाप रूप हैं और वे ही आत्म गुण के घातक हैं। इसलिये अशुद्ध भावों (शुभ-अशुभ भाव) से कर्म बंध होता है। अतः दोनों ही हेय हैं। उसमें एक को हेय व एक को उपादेय मानना आस्रव व बंध तत्त्व संबंधी भूल है। विशेष इतना कि **शुभबंध के कारण को उपादेय मानना आस्रव तत्त्व संबंधी भूल है और शुभ बंध के फल को उपादेय मानना बंध तत्त्व संबंधी भूल है। इसीप्रकार इस पर्याय**

संबंधी शुभ–अशुभ भावों में राग–द्वेष करना आस्रव तत्त्व संबंधी भूल है और शुभाशुभ भावों के परिणाम स्वरूप आगामी पर्याय संबंधी सुख–दु:ख सामग्री में राग–द्वेष करना बंध तत्त्व संबंधी भूल है।

इस भव संबंधी शुभ भावों में कुछ क्रिया होती है, कुछ करना पड़ता है। जैसे– पूजा करनी होती है, दान देना होता है, व्रत–उपवास भी किए जाते हैं अर्थात् शुभ क्रिया संबंधी भूल आस्रव तत्त्व संबंधी भूल है तथा आगामी भव संबंधी फल में कुछ करना नहीं है, वह तो शुभभावों के फलस्वरूप मिलता है; किन्तु उस फल में सुखबुद्धि वह बंध तत्त्व सम्बंधी भूल है। अतः पुण्य के फलरूप प्राप्त सामग्री में हेय बुद्धि ही बंध तत्त्व संबंधी सही समझ है।

संवर तत्त्व संबंधी भूल –

अहिंसादि रूप शुभ आस्रव भावों को संवर का कारण जानना, मानना ही संवर तत्त्व संबंधी भूल है; क्योंकि एक कारण से दो परस्पर विरोधी कार्य नहीं हो सकते। चूँकि अहिंसादि शुभभाव पुण्य बंध के कारण हैं, तो उनसे ही संवर नहीं हो सकता। पुण्य बंध के कारण उन शुभ आस्रव भावों को संवर के कारण भी मानना संवर तत्त्व संबंधी भूल है।

संवर के कारण तो गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र है। इनके सही स्वरूप को न जानता हुआ अज्ञानी इनके संबंध में भी भूलें करता है। जो निम्न प्रकार हैं–

(1) गुप्ति – वीतराग भाव होने पर मन–वचन–काय की चेष्टा न होना ही सच्ची गुप्ति है। ऐसा न जानकर बाह्य में मन, वचन–काय की चेष्टा न करने को ही गुप्ति मानना गुप्ति संबंधी भूल है। जैसे मन में भक्ति आदि के शुभ–भाव चलते रहने पर भी मात्र पाप का चिंतन न करने को ही मन गुप्ति मानना, मौन धारण करने को वचन गुप्ति मानना और आना–जाना बंद करने को काय गुप्ति मानना ही गुप्ति संबंधी भूल है।

(2) समिति– मुनियों के अति आसक्ति के अभाव में प्रमाद रूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा अन्य जीवों को दु:खी करके वे गमनादि नहीं करते हैं, अतः उनके स्वयमेव दया होती है– यही सच्ची समिति है। ऐसा न मानकर अपने द्वारा जीवों की रक्षा के निमित्त से की गयी यत्नाचार रूप शुभ प्रवृत्ति को समिति मानना समिति संबंधी भूल है: क्योंकि रक्षा के परिणामों से पुण्य बंध होता है, संवर नहीं।

(3) धर्म – तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब पर पदार्थ अच्छे–बुरे नहीं लगते, तब स्वयमेव ही क्रोध आदि उत्पन्न नहीं होते–तब सच्चा धर्म होता है। ऐसा न जानकर पाप बंध के भय से व स्वर्ग–मोक्ष के लोभ से क्रोधादि न करते हुए अपने को उत्तम क्षमादिधर्म का धारक मानना धर्म सम्बंधी भूल है, क्योंकि अन्तरंग में क्रोधादि का अभिप्राय नहीं मिटा है।

(4) अनुप्रेक्षा – वस्तु का सही स्वरूप पहिचान कर भला जान राग नहीं करना, बुरा जान द्वेष नहीं करना–यही सच्ची उदासीनता है, अनुप्रेक्षा है। ऐसा न जानकर अनित्यादि भावना के चिंतन से शरीरादिक को बुरा जान कर उदास होने को अनुप्रेक्षा मानना अनुप्रेक्षा संबंधी भूल है, क्योंकि उसकी यह उदासीनता द्वेष रूप होती है।

(5) परिषहजय – इष्ट–अनिष्ट में सुखी–दु:खी नहीं होना व ज्ञाता–दृष्टा रहना ही सच्चा परिषहजय है। ऐसा न मानकर भूख–प्यास आदि लगने पर उसके नाश का उपाय नहीं करने को परिषहजय मानना ही परिषहजय संबंधी भूल है; क्योंकि भूख–प्यास लगने पर अंतर में क्लेशरूप परिणाम होते रहते हैं। जिन पर अज्ञानी ध्यान नहीं देता।

(6) **चारित्र –** संपूर्ण कषाय रहित उदासीन भाव ही चारित्र है। ऐसा न मानकर हिंसादि के त्याग को चारित्र मानना तथा महाव्रतादि शुभयोग को उपादेय मानना चारित्र संबंधी भूल है; क्योंकि अणुव्रत-महाव्रत आस्रव रूप होने से हेय हैं, उपादेय नहीं तथा बंध का कारण होने से महाव्रत आदि को चारित्रपना संभव नहीं है। विशेष इतना कि मुनिराज मंद कषायरूप महाव्रतादि का पालन तो करते हैं, पर उन्हें मोक्षमार्ग नहीं मानते।

निर्जरा तत्त्व संबंधी भूल

अनशनादि बाह्य तप से निर्जरा मानना ही निर्जरा तत्त्व संबंधी भूल है; क्योंकि मात्र बाह्य तप करने से ही निर्जरा नहीं होती। यदि बाह्य दुःख सहना ही निर्जरा का कारण हो तो तिर्यंचादि भी भूख-प्यास को सहते हैं। वस्तुतः तो शुद्धोपयोग ही निर्जरा का कारण है, इसलिए उपचार से तप को निर्जरा का कारण कहा है। निश्चय धर्म तो वीतराग रूप शुद्ध भाव है, वही निर्जरा का कारण है और बाह्य तप रूप शुभ भाव बंध का कारण है।

मोक्ष तत्त्व संबंधी भूल

स्वर्ग मोक्ष-सुख की एक जाति मानना ही मोक्ष तत्त्व संबंधी भूल है; क्योंकि स्वर्गसुख इंद्रियजनित है और मोक्षसुख अतीन्द्रिय है।

इसीप्रकार स्वर्ग व मोक्ष के कारण को एक मानना भी मोक्ष तत्त्व संबंधी भूल है; क्योंकि स्वर्ग का कारण शुभ भाव है और मोक्ष का कारण शुद्ध भाव।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन शास्त्रों को पढ़ लेने के बाद भी सातों तत्त्वों संबंधी विपरीत श्रद्धान बना रह सकता है।

(3) लक्षण और लक्षणाभास

प्रत्येक वस्तु को जानने के लिए अथवा गहराई से जानने के लिए उसका लक्षण – (परिभाषा) जानना बहुत आवश्यक है; क्योंकि लक्षण को जाने बिना वस्तु को पहचानना व सत्यासत्य का निर्णय करना संभव नहीं है। वस्तुस्वरूप के सही निर्णय के बिना उसका वर्णन करना संभव नहीं हैं; यदि किया भी जाएगा, तो वह गलत होगा।

किसी भी वस्तु का लक्षण जानने से पहले लक्षण की परिभाषा जानना भी ज़रूरी है, क्योंकि यदि हम लक्षण का स्वरूप ही न जानेंगे तो विवक्षित (चाही गई) वस्तु का जो लक्षण बनाया है, वह सही है या गलत इसका निर्णय नहीं हो पायेगा।

परस्पर मिली हुई अनेक वस्तुओं (पदार्थों) में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा अलग की जाती है, उसे लक्षण कहते हैं। लक्षण दो प्रकार के होते हैं – आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।

(1) जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे जीव का लक्षण चेतना है और पुदगल का रूप, रस, गंध, स्पर्श है।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि यद्यपि सभी पुद्‌गलों में ये चारों ही गुण पाए जाते हैं, तथापि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की किसी एक विशेषता को भी लक्षण बनाया जा सकता है। जैसे रुई कोमल होती है, चीनी मीठी होती है, चंदन में खुशबू होती है। उक्त उदाहरणों में क्रमशः स्पर्श, रस, गंध गुण की प्रधानता से उन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक् किया जा रहा है।

आत्मभूत लक्षण ही वास्तविक लक्षण है; क्योंकि यह वस्तु के स्वरूप को बतलाता है। वस्तु की पहचान हमेशा इससे ही की जाती

है। इससे ही त्रिकाल (भूत, वर्तमान, भविष्य) में सदा एक सी रहने वाली संयोग रहित वस्तु का निर्णय किया जाता है। जैसे शरीर के संयोगों से रहित असंयोगी त्रिकाली आत्मतत्त्व का ज्ञान इस लक्षण से ही होता है।

(2) जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो, उससे पृथक् हो; उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे – टोपीवाले पंडित जी, पगड़ी वाले दादा जी, लकड़ी वाली अम्मा जी, चश्मा वाले मास्टरजी आदि।

उक्त उदाहरणों में टोपी, पगड़ी, चश्मा, लकड़ी आदि वस्तुएँ यद्यपि उनसे युक्त व्यक्तियों से भिन्न हैं, फिर भी वे वस्तुएँ व्यक्ति विशेष को अन्य व्यक्तियों से पृथक् करती हैं; अतः उक्त सभी अनात्मभूत लक्षण के उदाहरण हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनात्मभूत लक्षण संयोग की अपेक्षा से बनाया जाता है, अतः वह संयोग युक्त वस्तु की संयोग रहित अन्य वस्तुओं से भिन्न पहिचान कराने का मात्र तत्कालीन बाह्य प्रयोजन सिद्ध करता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किसी भी वस्तु का लक्षण बनाते समय बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता होती है; क्योंकि वही आगे चलकर परीक्षा का आधार बनता है। ज़रा सी भी असावधानी होने पर लक्षण दोष सहित हो जाता है – जैसे कोई कहे कि जो चलता-फिरता है, उसे जीव कहते हैं; तो यह लक्षण सदोष होने से लक्षणाभास कहलाएगा।

जो लक्षण सदोष हों,उन्हें ही लक्षणाभास कहते हैं। लक्षणाभासों में तीनप्रकार के दोष पाए जाते हैं- अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष।

(1) अव्याप्ति – लक्ष्य के एक देश में लक्षण के रहने को अव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे-जो मूँछ वाला हो, उसे पुरुष कहते हैं। चूँकि मूँछ सभी पुरुष नहीं बढ़ाते हैं; अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

जिसका लक्षण किया जाये, उसे **लक्ष्य** कहते हैं अर्थात् लक्षण से जिसे पहचाना जाता है, उसे लक्ष्य कहते हैं। जैसे – जीव का लक्षण चेतना है। इसमें जीव लक्ष्य हुआ ओर चेतना लक्षण।

उक्त उदाहरण में भी पुरुष लक्ष्य हुआ और मूँछ लक्षण। मूँछ लक्षण सभी लक्ष्य पुरुष में न होने से यह लक्षणाभास कहलाएगा।

(2) अतिव्याप्ति– जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहे, उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे – जो दो आँखों वाला हो, उसे पुरुष कहते हैं। यद्यपि सभी पुरुषों के दो आँखें होती हैं; किंतु आँखें पुरुष के अलावा स्त्रियों और पशु-पक्षियों में भी पाई जाती हैं। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हुआ।

लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को **अलक्ष्य** कहते हैं। उपरोक्त उदाहरण में पुरुष लक्ष्य है और पुरुषों को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियाँ, पशु-पक्षी आदि अलक्ष्य हैं तथा दिया गया लक्षण 'आँखों का होना' लक्ष्य (पुरुष) व अलक्ष्य (स्त्रियों) आदि में भी होता है। अतः यह लक्षण नहीं लक्षणाभास है।

संक्षेप में कहें तो लक्षण ऐसा होना चाहिए जो पूरे लक्ष्य में तो रहे, किंतु अलक्ष्य में न रहे। पूरे लक्ष्य में व्याप्त न होने पर अव्याप्ति और लक्ष्य व अलक्ष्य में व्याप्त होने पर अतिव्याप्ति दोष आता है।

(3) असंभव – लक्ष्य में लक्षण की असंभवता को असम्भव दोष कहते हैं। जैसे-जिसकी पूँछ होती है, वह पुरुष होता है, यहाँ पुरुष लक्ष्य है और उसमें पूँछ का होना लक्षण। यह लक्षण लक्ष्य में नहीं होता है, अतः यह लक्षण असंभव दोष से युक्त है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिस लक्षण में दोष आ जाए, वह लक्षण होता ही नहीं है। वह तो उसका आभास मात्र है, लक्षणाभास है। लक्षण तो निर्दोष ही होता है, वही अन्य वस्तुओं से भिन्नता का व परीक्षा का आधार बनता है।

●

पदार्थों को जानने के उपाय

प्रश्न –1. पदार्थों को जानने के कितने उपाय हैं ?

उत्तर – पदार्थों को जानने के चार उपाय हैं – लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप।

प्रश्न –2. प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर – स्व व पर पदार्थों के स्वरूप का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित निर्णय करने वाले सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

प्रश्न –3. प्रमाण के कितने भेद हैं ? नाम बताइए।

उत्तर – प्रमाण के मूल भेद दो हैं – प्रत्यक्ष व परोक्ष।

प्रश्न –4. नय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो वस्तु के अपर पक्ष का निषेध न करते हुए उसके अंश का कथन करता है, उसे नय कहते हैं।

प्रश्न –5. नय के कितने भेद हैं ? नाम बताइए।

उत्तर – नय के मूल भेद दो हैं – अध्यात्म के नय (निश्चय–व्यवहार नय) और आगम के नय (द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक नय)।

प्रश्न –6. निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रमाण और नयों के अनुसार प्रचलित लोक व्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

प्रश्न –7. निक्षेप के कितने भेद हैं ? नाम बताइए।

उत्तर – निक्षेप के चार भेद हैं – नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप।

4

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं

जैनदर्शन में श्रावक शब्द का प्रयोग सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के लिए ही किया जाता है। व्रत धारण करने की अपेक्षा उसके अनेक भेद हो जाते हैं ।

जो व्रत धारण नहीं कर पाते हैं, उन्हें चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक कहा जाता है। यद्यपि चौथे गुणस्थानवर्ती जीव के श्रद्धा, ज्ञान, सम्यक् हो जाते हैं तथा स्वरूप में आंशिक स्थिरता होने से मोक्षमार्ग का आरंभ भी हो जाता है, किंतु मात्र उतनी आत्मस्थिरता चारित्र नहीं कहलाता है। इसी कारण उसे 'अव्रती' कहा जाता है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक की प्रतीति में आत्मा का सही स्वरूप आ जाता है, साक्षात् निर्विकल्प आत्मा के आनंद का अनुभव हो जाता है; तथापि आत्मलीनता का पुरूषार्थ मंद होने से वह अनुभव जल्दी-जल्दी नहीं आता एवं बहुत थोड़े काल ही ठहरता है। इस अवस्था में व्रत परिणाम नहीं हो पाते, अव्रत के भाव ही रहते हैं। इस गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी (क्रोध, मान, माया, लोभ) का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक विशेष पुरुषार्थ पूर्वक स्वरूप स्थिरता बढ़ाकर पंचम गुणस्थान प्राप्त करता है। पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से अनुभव जल्दी-जल्दी होने लगता है एवं स्थिरता का काल भी बढ़ जाता है। जिससे परिणति में वीतरागता भी बढ़ जाती है। वीतरागता बढ़ने से साधक जीव की संसार, देह व भोगों के प्रति

सहज ही आसक्ति कम होने लगती है और उनके प्रति सहज उदासीनता आ जाती है। उसे उस भूमिका के योग्य अशुभ भावों को छोड़ने की प्रतिज्ञा लेने का भाव होता है और साथ ही साथ सहज ही (बिना हठ के) बाह्य आचरण में भी तदनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं। कषाय मंदता के साथ तदनुकूल बाह्य प्रवृत्ति को ही व्यवहार से प्रतिमा अथवा व्यवहार देशचारित्र कहा जाता है और जो स्वरूप स्थिरता की वृद्धि होती है व रागांश घटते हैं, उसे निश्चय प्रतिमा अथवा निश्चय देशचारित्र कहते हैं।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि निश्चय प्रतिमा के बिना अकेली कषायों की मंदता व तदनुकूल बाह्य प्रवृत्ति (क्रिया) प्रतिमा नहीं है; अतः जिसको पंचम गुणस्थान न हो, उसको यथार्थ प्रतिमा नहीं हो सकती। पंचम गुणस्थान योग्य आत्मस्थिरता में वृद्धि ही यथार्थ देशचारित्र है और वही निश्चय से प्रतिमा है, वह आत्मानुभव के बिना संभव नहीं।

आत्मा की अंतरंग शुद्ध दशा को ज्ञानधारा व साथ रहने वाले शुभाशुभ भावों को कर्मधारा कहते हैं।

अंतरंग ज्ञानधारा व बहिरंग कर्मधारा की वृद्धिंगत अवस्था को आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाओं में विभाजित किया है। जो निम्न हैं – (1) दर्शन प्रतिमा (2) व्रत प्रतिमा (3) सामायिक प्रतिमा (4) प्रोषधोपवास प्रतिमा (5) सचित्त त्याग प्रतिमा (6) दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा (7) ब्रह्मचर्य प्रतिमा (8) आरम्भ त्याग प्रतिमा (9) परिग्रह त्याग प्रतिमा (10) अनुमति त्याग प्रतिमा (11) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

(1) दर्शन प्रतिमा –

आठ मूलगुण संग्रहै, कुव्यसन क्रिया न कोई।
दर्शन गुण निर्मल करै, दर्शन प्रतिमा सोई।। **छंद–59**

अर्थ – दर्शनगुण की निर्मलता अष्टमूल गुणों का ग्रहण और सात कुव्यसनों का त्याग इसे दर्शन प्रतिमा कहते हैं।

इस छंद में निश्चय दर्शन प्रतिमा और व्यवहार दर्शन प्रतिमा का स्वरूप बताया गया है।

सम्यक्त्वपूर्वक भूमिका योग्य शुद्ध परिणति निश्चय से दर्शन प्रतिमा है और उसके साथ कषाय मंदता से अष्ट मूलगुण धारण व सप्तव्यसन त्यागरूप भावों का सहज (हठ बिना) होना व्यवहार दर्शन प्रतिमा है।

निरतिचार सम्यग्दर्शन का होना ही दर्शन गुण की निर्मलता है।

ग्रहण की गई प्रतिमा के अयोग्य शिथिलताजन्य विकल्प ही व्रतों के अतिचार कहलाते हैं। अंतरंग में शिथिलता आने पर भूमिका में दोष उत्पन्न करने वाला रागांश अंतर में उठता है, वही उस-उस व्रत का अतिचार होता है। जिसे देखकर ज्ञानी जीव विचलित नहीं होता, अपितु स्वरूप स्थिरता बढ़ाकर उन्हें दूर करने का प्रयास करता है।

मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बर फल (बड़फल, पीपल फल, ऊमर फल, पाकर फल, कठूमर फल अथवा गूलर) खाने का त्याग करना ही अष्ट मूलगुण[1] धारण करना है।

जुआ खेलना, माँस खाना, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार खेलना, चोरी करना व पर स्त्री रमणता – ये सात व्यसनों का त्याग ही 'सप्तव्यसन त्याग' है।

टिप्पणी – 1. कहीं-कहीं पाँचों पापों और मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है और कहीं-कहीं पंचपरमेष्ठी में भक्ति, जीवदया, पानी छान कर काम में लाना, मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, रात्रि भोजन त्याग और उदुम्बर फलों का त्याग – ये आठ मूलगुण कह गए हैं।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि आचार्य समन्तभद्र ने दर्शन प्रतिमा में पाँच अणुव्रत भी शामिल किए हैं, क्योंकि पाँच अणुव्रत के पालन में अष्ट मूलगुण का धारण व सप्तव्यसन का त्याग शामिल हो जाता है।

इनको शामिल करते हुए जयचंद जी छाबड़ा लिखते हैं कि पाँच अणुव्रत का पालन और अष्ट मूलगुण के धारण में विरोध नहीं है, मात्र विवक्षा (अपेक्षा) का अंतर है। जैसे – पाँच उदुम्बर फल का त्याग और तीन मकार का त्याग करने से त्रस जीवों के घात का त्याग हुआ और अहिंसा अणुव्रत में भी यही त्याग होता है तथा सप्तव्यसन के त्याग में झूठ, चोरी और पर स्त्री का ग्रहण नहीं है; अतः सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, स्व-स्त्री संतोष व्रत – इनमें शामिल हो गए। लोभ के त्याग से परिग्रह का कम करना हुआ, उसमें परिग्रहपरिमाणव्रत शामिल हो गया – इसप्रकार पाँच अणुव्रत भी इस प्रतिमा में शामिल हो जाते हैं। अत: दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती होता है।

(2) व्रत प्रतिमा –

पाँच अणुव्रत आदरै, तीन गुणव्रत पाल।
शिक्षाव्रत चारों धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल।। **छंद-60**

अर्थ – दूसरी प्रतिमा धारी ज्ञानी पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का पालन करता है। यही इस प्रतिमा का बाह्य स्वरूप है ।

इस प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति निश्चय से व्रत प्रतिमा है और 12 देशव्रत के कषाय मंदतारूप भाव व्यवहार व्रत प्रतिमा है।

पहली प्रतिमा से अधिक इसमें वीतरागता होती है तथा निम्न कोटि के रागभाव नहीं होते हैं। विशेष इतना कि इस प्रतिमा में पाँच

अणुव्रत का निरतिचार पालन होता है, पर गुणव्रत और शिक्षा व्रतों के अतिचार सर्वथा नहीं टलते हैं।

(3) सामायिक प्रतिमा –

द्रव्य भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तजि ममता समता गहै, अन्तर्मुहूरत एक।।
जो अरि मित्र समान विचारै, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।
संयम सहित भावना भावै, सो सामायिकवंत कहावे।। छंद–61–62

अर्थ – भाव सहित द्रव्य[1] से भी प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग करते हुए जो ममता को छोड़ते हुए एक अंतर्मुहूर्त[2] तक समता भाव को धारण करता है, वह ज्ञानी शत्रु व मित्र में समान रूप से व्यवहार करता है, आर्त्त–रौद्र दोनों कुध्यानों को छोड़ता है, संयम सहित रहने की भावना भाता है; वही सामायिक प्रतिमा धारी कहलाता है।

आर्त्त–रौद्र ध्यान संसार के कारण होने से उन्हें यहाँ कुध्यान कहा है। इस प्रतिमा के योग्य शुद्धि की वृद्धि निश्चय से सामायिक प्रतिमा है और व्यवहार से दिन में तीन बार एक अंतर्मुहूर्त तक प्रतिज्ञा पूर्वक अपने परिणामों को संयमित करने का अभ्यास व्यवहार सामायिक प्रतिमा है। इस प्रतिमा धारी ज्ञानी को आत्मलीनता में वृद्धि के कारण बाह्य में आसक्ति के भाव कम हो जाते हैं। आत्मानंद में वृद्धि होती है ।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि अंतर्मुहूर्त एकांत में बैठकर मात्र पाठ पढ़ लेना ही सामायिक नहीं है, अपितु ज्ञान स्वभाव में लीनता ही सच्ची सामायिक है।

टिप्पणी – 1. यहाँ द्रव्य से तात्पर्य आसन, मुद्रा, शरीर और वचन की स्थिरता आदि बाह्य क्रियाओं से है और भाव से तात्पर्य अंतरंग स्थिति आत्मलीनता से है।

2. एक मुहूर्त 48 मिनिट का होता है। उससे कम को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

(4) प्रोषधोपवास प्रतिमा –

प्रथमहिं सामायिक दशा, चार पहरलौ होय।
अथवा आठ पहर रहे प्रोषध प्रतिमा सोय।। **छंद-63**

अर्थ – जब सामायिक की स्थिति बढ़कर 4 प्रहर (12 घंटे) अथवा 8 प्रहर (24 घंटे) तक रहने लगती है, तब प्रोषध प्रतिमा होती है।

संक्षेप में कहें तो अंतरंग में समता भाव की स्थिति, आत्मानुभूति की स्थिति प्रत्येक प्रतिमा में उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। अंतरंग में तो यही परिवर्तन प्रतिमा बढ़ने का निश्चय कारण है और बहिरंग उस-उस भूमिका के अनुकूल त्याग करने के भाव होते हैं। जब 12 घंटे, 24 घंटे सामायिक में रहेंगे तो बाह्य में भोजन आदि का त्याग सहज हो जाता है। संसार, शरीर और भोगों में आसक्ति कम होने लगती है। विषय, कषाय, आहार – तीनों का त्याग होने लगता है। माह में कम से कम चार बार प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को आहार आदि सर्व सावद्य योग का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग होता है।

प्रोषधोपवास के तीन प्रकार होते हैं – जघन्य, मध्यम और उत्तम।

24 घंटे में एक बार भोजन जघन्य प्रोषधोपवास है। जिसे एकासन भी कहा जाता है।

24 घंटे में एक बार भी अन्न-जल ग्रहण न करना मध्यम प्रोषधोपवास है।

एक दिन पहले एकासन करना, दूसरे दिन उपवास करना और तीसरे दिन पुनः एकासन करना उत्तम प्रोषधोपवास है।

विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि मात्र भोजन का त्याग प्रोषधोपवास नहीं है; अपितु आत्मलीनता का उग्र पुरुषार्थ करते

हुए विषय, कषाय, आहार- तीनों का त्याग ही सच्चा प्रोषधोपवास है। ऐसा करते हुए जो आत्मलीनता में वृद्धि हुई, वह तो निश्चय प्रोषधोपवास है और उसके साथ होने वाले त्याग को व्यवहार से प्रोषधोपवास कहा जाता है।

(5) सचित्त त्याग प्रतिमा –

जो सचित्त भोजन तजै,पीवै प्रासुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञा गीर।। **छंद-64**

अर्थ – जो सचित्त भोजन का त्याग करता है, प्रासुक पानी पीता है, वह पाँचवी प्रतिमा को धारण करने वाला पुरुष सचित्त त्यागी कहलाता है ।

पाँचवीं प्रतिमाधारी श्रावक की आंतरिक शुद्धि निश्चय सचित्त त्याग प्रतिमा है और तदनुसार मंद कषायरूप भाव होने से सचित्त भोजन-पान का त्याग व्यवहार सचित्त त्याग प्रतिमा है।

इसमें चौथी प्रतिमा से अधिक आत्मलीनता होने से आसक्ति भाव कम हो जाता है। शरीर की स्थिति के लिए भोजन लेने का भाव तो आता है, लेकिन सचित्त[1] वनस्पति लेने का भाव नहीं होता, प्रासुक[2] पानी ही काम में लेता है।

(6) दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा –

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै, तिथि आये निशिदिवस संभालै ।
गहि नव वाड़ करै व्रत रक्षा, सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या ।। **छंद-65**

टिप्पणी – 1. जिसमें उगने की योग्यता हो ऐसे अन्न एवं हरी वनस्पति को सचित्त कहते हैं ।

2. गर्म किया हुआ अथवा लोंग, इलायची, राख आदि डालकर स्वाद बदल देने से पानी प्रासुक होता है।

अर्थ – श्रावक को नौ बाड़[1] सहित दिन में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए और अष्टमी, चतुर्दशी तिथि को दिन-रात नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना ही छठवीं प्रतिमा कही गई है।

प्रथम प्रतिमा से उत्तरोत्तर वृद्धिंगत यथोचित आत्मलीनता रूप शुद्धि ही निश्चय दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा है तथा उसके साथ होने वाले त्याग रूप शुभ भाव व्यवहार दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा है।

इस प्रतिमा में दिन के समय सर्वथा स्त्री संग का त्याग है व रात में भी माह में चार बार पूर्णतः ब्रह्मचर्य पालन है। यह प्रतिमा सातवीं प्रतिमा के अभ्यास रूप है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की भूमिका तैयार करती है।

इस प्रतिमा को रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा भी कहा जाता है। इस प्रतिमा में कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक सभी प्रकार के आहारों का त्याग होता है।

(7) ब्रह्मचर्य प्रतिमा –

जो नव वाड़ि सहित विधि साधै, निशदिन ब्रह्मचर्य आराधे।
सो सप्तम प्रतिमाधर ज्ञाता, शील शिरोमणि जगत विख्याता ।। **छंद-66**

टिप्पणी –

नव बाड़ –

1. स्त्रियों के समागम में न रहना।
2. राग भरी दृष्टि से न देखना।
3. परोक्ष में (छुपा कर) संभाषण, पत्राचार आदि न करना।
4. पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण नहीं करना।
5. कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन नहीं करना।
6. कामोत्पादक शृंगार नहीं करना।
7. स्त्रियों के आसन, पलंग आदि पर नहीं सोना, न बैठना।
8. कामोत्पादक कथा, गीत आदि नहीं सुनना।
9. भूख से अधिक भोजन नहीं करना।

अर्थ – जो ज्ञानी रात–दिन सदाकाल नौ बाड़ सहित ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं, वे सातवीं प्रतिमा धारी ज्ञानी संसार में शीलशिरोमणि के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।

स्वरूप के आनंद में विशेष लीनता ही निश्चय से ब्रह्मचर्य प्रतिमा है और मन से भी अब्रह्म के भाव न होने की प्रतिज्ञा लेना व्यवहार ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इसप्रकार इस प्रतिमा में त्रियोग से पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन होता है।

(8) आरंभ त्याग प्रतिमा –

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ ।। छंद–68

अर्थ – जो विवेक पूर्वक धर्म की विधियों का सम्मान (पालन) करता है और खेती, व्यापार आदि पाप की क्रिया नहीं करता है, वह कुगति रूपी युद्ध के खंभे को जीतने वाली आठवीं प्रतिमा का स्वामी होता है अर्थात् आठवीं प्रतिमा का धारी व्यक्ति कुगति में नहीं जाता है।

सातवीं प्रतिमा से अधिक यथोचित शुद्धि ही निश्चय से आरंभ त्याग प्रतिमा है और बाह्यारंभ का त्याग व्यवहार से आरंभ त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा में संसार, शरीर के प्रति राग अल्प हो जाने से भोगों के प्रति उठने वाले विकल्प मर्यादित हो जाते हैं। बाह्य में भी पापारम्भ के विकल्पों का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग हो जाने से सभी प्रकार के व्यापार का त्याग हो जाता है।

(9) परिग्रह त्याग प्रतिमा –

जो दशधा परिग्रह कौ त्यागी, सुख संतोष सहित बैरागी ।
समरस संचित किंचित ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमावाही ।। छंद–69

अर्थ – जो अति आवश्यक वस्तुओं का संचय करते हुए दश प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देता है, वह श्रावक नवमीं प्रतिमा धारी होता है। उसका जीवन वैराग्यमय, संतोषी एवं साम्यभाव धारी हो जाता है ।

इस प्रतिमा धारी के शुद्धि की वृद्धि और भी अधिक हो जाती है। आत्मानुभूति पूर्वक शुद्धि की वृद्धि ही निश्चय से परिग्रह त्याग प्रतिमा है। उसके साथ कषाय मंद हो जाने से बाह्य परिग्रह का त्याग व्यवहार परिग्रह त्याग प्रतिमा है।

(10) अनुमति त्याग प्रतिमा –

पर कौं पापारम्भ को, जो न देइ उपदेश ।
सो दशमी प्रतिमा सहित श्रावक विगत कलेश ।। छंद–70

अर्थ – जो कुटुंबी व अन्य परिचितों को विवाह, व्यापार आदि पाप क्रियायें करने का उपदेश नहीं देता, वह श्रावक पाप रहित दसवीं प्रतिमा का धारी होता है ।

इस प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति निश्चय अनुमति त्याग प्रतिमा है। निश्चय प्रतिमा के साथ राग की मंदता बढ़ने से सांसारिक क्रियाओं को करने का उपदेश, आदेश, सलाह आदि देने का त्याग करना ही व्यवहार अनुमति त्याग प्रतिमा है अर्थात् इस प्रतिमा में मन, वचन, काय व कृत–कारित–अनुमोदना – सभी प्रकार से सांसारिक क्रियाओं का त्याग हो जाता है। अतः इस श्रावक को उत्तम श्रावक कहा गया है।

(11) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा –

जो सुछंद वरते तज डेरा, मठ मंडप में करै बसेरा।
उचित आहार उद्दंड विहारी, सो एकादश प्रतिमा धारी।। छंद–71

अर्थ – जो माता–पिता, पत्नी –संतान आदि परिवार से विरक्त होकर, घर छोड़कर स्वतंत्र रूप से मठ–मंडप में रहता है, उद्दिष्ट भोजन का त्याग करते हुए, स्वच्छंद होकर विहार करने वाले श्रावक 11वीं प्रतिमा के धारी होते हैं।

इस प्रतिमा वाले श्रावक की परिणति में वीतरागता बहुत बढ़ गई होती है व निर्विकल्प दशा भी जल्दी–जल्दी आती है और अधिक समय तक रहती है। उनकी अंतरंग शुद्ध परिणति ही निश्चय से उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है और इसके साथ होने वाले शुभ भाव व बाह्य क्रिया व्यवहार उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है।

इस प्रतिमा तक पहुँचने वाले श्रावक की संसार, शरीर आदि से उदासीनता बढ जाती है; अतः ये घर–परिवार से अलग होकर स्वच्छंद विहारी व उद्दिष्ट आहार के त्यागी होते हैं। इस प्रतिमा के धारक नियम से गृह विरत ही होते हैं।

ये गृह विरत श्रावक दो प्रकार के होते हैं – क्षुल्लक व ऐलक।

ऐलक दशा में मात्र लंगोटी व पिच्छी–कमंडलु के अतिरिक्त बाह्य परिग्रह का त्याग हो जाता है। आहार–विहार मुनियों के समान हो जाता है। इसके आगे मुनि दशा ही होती है। यह इस प्रतिमा की उत्कृष्ट दशा है। क्षुल्लक दशा में आहार–विहार की क्रियाएँ तो ऐलक के समान ही होती हैं; किंतु वस्त्र एक के स्थान पर दो होते हैं, भोजन के लिए पात्र रख सकते हैं और केशलौंच के स्थान पर हजामत (बाल नाई से कटवाना) करवा सकते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन ग्यारह प्रतिमाओं में आरंभ से अंत तक उत्तरोत्तर क्रमिक विकास है, अतः ये आरंभ से उत्तरोत्तर इसी क्रम से ग्रहण होती हैं। विशेष इतना कि नीचे की प्रतिमाओं की दशा आगे की प्रतिमाओं में छूटती नहीं है, अपितु वृद्धि को ही प्राप्त

होती है। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की निरंतर वर्तती हुई यथोचित वीतरागता भावलिंग, भावप्रतिमा अथवा निश्चय प्रतिमा है एवं उस-उस प्रतिमा के अनुकूल शास्त्र कथित कषाय मंदता रूप शुभ भाव द्रव्यलिंग द्रव्यप्रतिमा अथवा व्यवहार प्रतिमा है तथा तदनुकूल बाह्य क्रियाओं का व्यवहार प्रतिमा के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से उन-उन क्रियाओं को भी व्यवहार प्रतिमा कहा जाता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि निश्चय प्रतिमा के बिना मात्र बाह्य आचरण व्यवहार प्रतिमा नहीं, द्रव्य प्रतिमा नहीं। जिस जीव को अकेली द्रव्य प्रतिमा हो और वह उसको सच्ची प्रतिमा माने तो विपरीत मान्यता के कारण उसे मिथ्यात्व का बंध ही करेगा।

स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा के बिना कषाय की मंदता में मात्र बाह्य क्रियाएँ संभव हो सकती हैं, किंतु यह संभव नहीं कि जीव को स्वरूप की श्रद्धा यथार्थ हो गई हो, आत्मानुभूति पूर्वक अन्तर में शुद्धि की वृद्धि हो रही हो और उसको उस-उस प्रतिमा में निषिद्ध विकल्प अंतर में उठते रहें तथा निषिद्ध बाह्य क्रियाएँ होती रहें अर्थात् निश्चय प्रतिमा होने पर व्यवहार प्रतिमा तो होती ही है; किंतु किसी को मात्र व्यवहार प्रतिमा हो तो निश्चय प्रतिमा हो ही, जरूरी नहीं है। निश्चय-व्यवहार का यही स्वरूप है, संधि है।

इन ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करने वाले श्रावक को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- पहले से छठवीं प्रतिमाधारी जघन्य व्रती श्रावक, सातवीं से नौवीं प्रतिमाधारी मध्यम व्रती श्रावक और 10वीं व 11वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट व्रती श्रावक। 11वीं प्रतिमा श्रावक का सर्वोत्कृष्ट अंतिम दर्जा है। ●

5 सुख क्या है?

यह पाठ डॉ. हुकुमचंद भारिल द्वारा लिखा गया है। इसमें लेखक सर्वप्रथम सुख के संबंध में होने वाली गलत मान्यताओं का उल्लेख करते हैं। साथ-ही-साथ उन मान्यताओं के गलत होने के कारणों को भी वे बताते हैं।

अज्ञानी जीव की सुख संबंधी भ्रमित धारणाओं को मोटे तौर पर तीन भागों में रखा जा सकता है :-

1) कुछ जन भोग सामग्री को सुख सामग्री मानते हैंऔर उसकी प्राप्ति को सुख की प्राप्ति समझते हैं, 2) कुछ जन सुख-दु:ख को काल्पनिक समझते हैं और 3) कुछ जन इच्छाओं की पूर्ति में सुख समझते हैं।

उक्त तीनों ही भ्रमित धारणाओं का सतर्क समुचित समाधान करते हुए लेखक ने कहा है कि भोग सामग्री को सुख सामग्री समझना- प्रत्यक्ष से बाधित कथन है; क्योंकि जिन-जिन वस्तुओं की उपलब्धि को सुख सामग्री समझा गया है, वह सुख सामग्री जिनके पास वर्तमान में विद्यमान है, वे सभी भी दु:खी ही देखे गए हैं, दूसरी बात हमें भी उनकी प्राप्ति होने पर चंद क्षणों की ही संतुष्टि मिलती है। उस सन्तुष्टि, खुशी को अज्ञानी सुख समझ लेते हैं। यदि वस्तुओं, भोग सामग्रियों की प्राप्ति में सुख होता है तो उनका त्याग करने वाले आदिनाथ, भरतादि मुनिराज उनके अभाव में दु:खी हो जाते और उनसे युक्त राजा महाराजा सुखी नजर आते; जबकि होता तो उल्टा ही है। भोग सामग्री रहित मुनिराज आत्मानंद में मग्न रहते हैं और राजा महाराजाओं के दु:खों से तो सर्वजगत परिचित ही है। भोग सामग्री को दु:ख सामग्री समझकर ही सभी ज्ञानी उनका त्याग कर मुनिराज बनते हैं।

ज्ञानी जन भोग सामग्री में न तो सुख की कल्पना करते हैं और न भोग सामग्री की इच्छा ही करते हैं; किंतु अज्ञानीजन कभी कल्पना में सुख मानते हैं, तो कभी इच्छाओं की पूर्ति में; किंतु न किसी तरह की कल्पना में सुख है और न इच्छाओं की पूर्ति में।

दूसरे के अधिक दु:ख देखकर अपने कम दु:खों में सुख की कल्पना तो सुखाभास है, सुख का भ्रम है; सुख नही, आनंद भी नहीं। इसीप्रकार अपनी अनेकों इच्छाओं में से कुछ इच्छा की पूर्ति में सुख मानना भी सुखाभास है; क्योंकि इच्छायें तो झरने में निरंतर बहते पानी की तरह (प्रपातवत्) अज्ञानी जन के मन में नित निरंतर उठती ही रहती हैं और नित्य बदलती हुई नवीन इच्छाओं की पूर्ति कभी संभव नहीं है। अतः इच्छाओं की पूर्ति में सुख की तलाश रेगिस्तान में पानी की तलाश जैसा है, मृग मरीचिका है।

सच्चा सुख इच्छाओं की पूर्ति में नहीं, उनके अभाव में है, इच्छाओं के उत्पन्न नहीं होने में है।

इच्छाओं की पूर्ति व भोग सामग्री से प्राप्त होने वाला सुख वास्तविक सुख है ही नहीं, आकुलतामय होने से वह तो दु:ख ही है।जैसे-खाने के सुख में भूख की आकुलता, कमाने की आकुलता है। निरोगी होने के सुख में रोग का दुख है। संयोग का सुख होगा तो, वियोग का दु:ख अनिवार्य है। इंद्रिय सुख, विषय सुख वस्तुतः दु:ख का ही भेद है। विषयों में, वस्तुओं में, इंद्रिय भोग में वस्तुतः सुख है नहीं, सुख की कल्पना है, सुख तो आत्मा में है; अतः इसकी प्राप्ति भी आत्मा में ही होगी।

सुख में कल्पना, तड़पन,चाह, इच्छा किसी का स्थान नहीं। ये सब दु:ख के ही पर्यायवाची हैं। इनमें सुख ढूँढना 100 लड़कों में एक लड़की को ढूँढना है; क्योंकि वस्तुतः वस्तुओं में, पदार्थों में,

पंचेन्द्रियों के विषय में सुख है ही नहीं। यदि उनमें सुख होता तो एक ही वस्तु, पदार्थ या विषय किसी को खुशी और किसी को दु:ख का कारण न बनता। जैसे बरसात किसी को अच्छी लगती है और किसी को दु:खदायक लगती है। इसीप्रकार मिठाई, नमकीन, खटाई सबको सदा अच्छी नहीं लगती।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हम सुख खोजते हैं जीवनभर और हमें मिलता है दु:ख जीवनभर। कभी-कभी कुछ पलों की खुशी मिलती है, जो टेंशन देती है जीवनभर।

हमारें दु:खों का मूल कारण है- हम सुख खोजते हैं पैसों में, साथ में, पर में; किन्तु न पैसों में सुख है, न साथ में। साथ की भावना पराधीनता की भावना है। पराधीनता में वो सुख कहाँ? जो स्वतंत्रता में हैं। वस्तुत: तो किसी भी परपदार्थ में सुख है ही नहीं।

सुख, आनंद तो आत्मा में है। जीव का सहज स्वभाव है; अतः आत्मा को सुख कहीं ढूँढना नहीं है, बाहर से पाना नहीं है। आत्मा तो स्वयं आनंद का कंद है, सुख का घनपिंड है। बस्स... उसे सुख की खोज पर में नहीं अपने में करना है। पर की ओर दृष्टि नहीं करनी है, अपनी ओर ही देखना है, अपने को ही जानना है, अपने में अपनापन करना है।

विशेष बात यह है कि अपने में अपनापन किया नहीं जाता, होता है। अपने में अपनापन होने के लिए अपना सही स्वरूप जानकर उसमें 'यह ही मैं हूँ' - ऐसा भाव सहज उत्पन्न होगा। जब इसप्रकार अपने को अपनेपन से जानेंगे, मानेंगे तो अतींद्रिय आनंद की अनुभूति होगी। वही स्वाधीन सुख है, सच्चा सुख है। अतः सच्चा सुख प्राप्त करने से पहले उसका सही स्वरूप जानना जरूरी है। ●

6 पाँच भाव

यह पाठ आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी रचित तत्त्वार्थ सूत्र के आधार पर लिखा गया है।

इसमें जो संवाद है, वह काल्पनिक है। संवाद रूपांतर पंडित खेमचंद्र जेठालाल सेठ, सोनगढ़ द्वारा किया गया है।

जीव के निजतत्त्व असाधारण भाव पाँच होते हैं, जो जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं होते हैं।

वे पाँच भाव निम्न हैं :- 1. पारिणामिक भाव 2. औदयिक भाव 3. औपशमिक भाव 4. क्षायोपशमिक भाव 5. क्षायिक भाव।[1]

चूँकि ये हमारे भाव हैं, अतः हमें अपना सही स्वरूप जानने के लिये अपने भाव जानना जरूरी है। अपना सही स्वरूप जानकर, पहचान कर ही हम अपना हित कर सकते हैं, धर्म कर सकते हैं, सुखी हो सकते हैं।

यद्यपि ये पाँचों भाव आत्मा के हैं, आत्मा में उत्पन्न होते हैं, किंतु सभी भाव समान रूप से उपादेय नहीं हैं; क्योंकि इनमें से चार भाव कर्मोपाधि के निमित्त से होते हैं और पारिणामिक भाव में कर्मोपाधिरूप निमित्त बिल्कुल नहीं है।

कर्मोपाधि के निमित्त से रहित पारिणामिक भाव स्वभाव भाव है, आश्रय करने की अपेक्षा परम उपादेय है।

कर्मों के उदय से होने वाले औदयिक भाव जीव के विकारी भाव हैं, विभाव भाव हैं, आश्रय करने योग्य नहीं हैं; मुक्ति सुख चाहने वालों के लिए हेय ही हैं।

टिप्पणी – 1. समझने में आसानी की दृष्टि से क्रम बदला है।

कर्मों के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से होने वाले औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक भाव यद्यपि आश्रय करने योग्य नहीं होने से हेय ही हैं; किंतु प्रकट करने की अपेक्षा उपादेय हैं।

जब हम हमारे में होने वाले इन पाँचों भावों का स्वरूप विस्तार से जानेगें तो हमें हमारे हितकारी, अहितकारी, कथंचित् हितकारी, कथंचित् अहितकारी सभी भावों की सही पहचान हो जाएगी। इन भावों को पहचानकर, जीवन में उतारकर हम हमारे दुःख दूर करने में समर्थ हो सकते हैं; अतः इनकी विस्तृत जानकारी आवश्यक है।

1. पारिणामिक भाव – सहज स्वभाव, उत्पाद–व्यय–निरपेक्ष, ध्रुव, एक रूप रहने वाले भाव को **पारिणामिक भाव** कहते हैं। स्वभाव भाव होने से यह भाव अनादिकाल से है, अनंत काल तक रहेगा। इस भाव के बिना कोई जीव नहीं हो सकता। अतः यह भाव सभी जीवों के सदाकाल पाया जाता है। सभी जीवों में होने से सर्वाधिक संख्या इसी भाव वाले जीवों की होती है। सभी जीवों से अर्थात् जीव की अशुद्ध अवस्था, संसारी अवस्था निगोद से लेकर शुद्ध अवस्था सिद्ध तक के सभी जीवों में अनादि–अनंत होने से यही एक भाव आश्रय करने योग्य है। इसके आश्रय से जीव अशुद्ध अवस्था का नाश कर पूर्ण शुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है, सुखी हो सकता है।

इस भाव के तीन भेद होते हैं– जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

2. औदयिक भाव – कर्मों के उदयकाल[1] में आत्मा में विभाव रूप परिणमन का होना औदयिक भाव है अर्थात् कर्मों की उदयरूप अवस्था के समय होने वाले आत्मा के भावों को औदयिक भाव

टिप्पणी :– 1. कर्मों का फलदान सामर्थ्यरूप से उद्‌भव होना ही उदय है। कर्मों के उदय के समय को ही उदयकाल कहा जाता है।

कहते हैं। जीव की विकारी अवस्था अनादिकाल से है और जब तक जीव पर की ओर झुकता है, उनमें अपनापन करता रहता है; तब तक जीव में विकार उत्पन्न होता रहता है। जब जीव पर से नाता तोड़कर अपने में अपनापन करता है,तो उसके इन भावों का अंत हो जाता है। इसप्रकार भव्य जीवों की अपेक्षा ये भाव अनादि-सांत है और अभव्य जीवों व दूरांदूर भव्य जीवों की अपेक्षा ये भाव अनादि- अनंत हैं। यह भाव सभी संसारी जीवों के होते हैं। पहले से चौदहवें गुणस्थान तक के सभी जीवों में यह भाव पाए जाते हैं। चूँकि औदयिक भाव विकारी भाव हैं, अतः मुक्तिपथ के पथिकों के लिए ये भाव हेय ही हैं।

इस भाव के 21 भेद हैं- चार गति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव), चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), तीन वेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद), छः लेश्या (कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल), मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम तथा असिद्धत्व भाव।

3. औपशमिक भाव – कर्मों के उपशम[1] से युक्त शुद्ध भाव को औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक भाव को दो प्रकार से समझा जा सकता है :- (1) आत्मा की मुख्यता से व (2) कर्मों की मुख्यता से।

टिप्पणी :- 1. उपशम को दो दृष्टियों से समझा जा सकता है। (1) कर्म की दृष्टि से और (2) आत्मा की दृष्टि से

(1) कर्म की दृष्टि से – वर्तमान में कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना उपशम कहलाता है अर्थात् अनुदय को प्राप्त सर्वघाति स्पर्धकों की सत्तारूप अवस्था को उपशम कहते हैं; क्योंकि इस अवस्था में उसकी शक्ति प्रकट नहीं हो सकती।

कर्मों के उदय के अभाव के कारण इतने समय के लिए जीव के परिणाम अत्यंत शुद्ध हो जाते हैं; परंतु अवधि पूरी हो जाने पर नियम से कर्म पुन: उदय में आ जाते हैं और जीव के परिणाम पुन: गिर जाते हैं।

उपशम मात्र दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म में होता है, अन्य किसी भी कर्म में नहीं।

(2) आत्मा की दृष्टि से – आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है अथवा आत्मा में परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रकट न होना उपशम है। जैसे – मैले पानी में फिटकरी डालने से मैल नीचे बैठ जाता है; वैसे ही परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रकट न होना उपशम है।

1) आत्मा की मुख्यता से – जब जीव स्व शुद्ध आत्मा में अपनापन करता है, आत्मा में लीन होना है; तब जीव के श्रद्धा व चारित्र संबंधी भावमल दब जाने रूप उपशामक भाव को ही औपशमिक भाव कहते हैं। जब जीव के अंतरंग में औपशमिक भाव होते हैं; तब उसी समय दर्शनमोहनीय व चारित्र मोहनीय का स्वयं फलदान समर्थ रूप से अनुद्भव[1] होता है, वही कर्म का उपशम रूप औपशमिक भाव है।

2) कर्मों की मुख्यता से – दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म का फलदान सामर्थ्यरूप से प्रगट न होना ही कर्म का उपशम है और ऐसे उपशम से युक्त जीव के भाव को औपशमिक भाव कहते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आत्मा के श्रद्धा व चारित्र संबंधी जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर मोहनीय कर्म का उपशम होता है अथवा मोहनीय कर्म के उपशम के समय आत्मा में जो शुद्ध भाव[2] होते हैं; उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि औपशमिक भाव में मुख्य दो स्थितियाँ बनती हैं – आत्मा के परिणामों में स्वयं की योग्यता से परिवर्तन होता है और उसके निमित्त से कर्मों में स्वयं अपनी योग्यता से परिवर्तन होता है। अतः उनका कथन दोनों ही दृष्टियों से किया जाता है। कर्म की दृष्टि से कथन करने पर कर्म मुख्य होता है और आत्मा की दृष्टि से कथन करने पर 'भाव' मुख्य होते हैं; किंतु बात एक ही है। दोनों ही कथनों में आत्मा के शुद्ध परिणाम हैं व कर्म का उपशम है।

आठ कर्मों में से उपशम दशा मात्र मोहनीय कर्म में ही होती है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं– दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय। इनका संबंध क्रमशः जीव के श्रद्धा व चारित्र गुण के साथ है; अतः उनके दो भेद हैं– 1) औपशमिक सम्यकत्व व 2) औपशमिक चारित्र।

टिप्पणी :– 1. प्रगट नहीं होता। **2.** आत्मा के द्वारा आत्मा को ही जानते समय जो भाव होते हैं, वे शुद्ध भाव हैं। उन्हें ही शुद्ध परिणाम कहते हैं और वही स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ है। इसप्रकार आत्मानुभूति का पुरुषार्थ ही स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ है। दोनों पर्यायवाची हैं।

जब जीव आत्मा का स्वरूप समझकर अपने परिणामिक भाव का आश्रय लेता है, तब सर्वप्रथम श्रद्धागुण का औदयिक भाव का उपशम होता है– यह औपशमिक भाव बतलाता है। यह सादि–सांत होता है; क्योंकि इसका काल अंतरमुहूर्त मात्र है। यह भाव मात्र औपशमिक सम्यक्त्व व औपशमिक चारित्रवंतों में ही होता है; अतः सबसे कम संख्या इसी भाव वालों की होती है।

इसी भाव से धर्म का आरंभ होता है; अतः यह प्रकट करने की अपेक्षा कथंचित् उपादेय है; किंतु आश्रय करने की अपेक्षा यह हेय ही है।

4. क्षायोपशमिक भाव – क्षयोपशम से युक्त भाव क्षायोपशमिक है। क्षयोपशम शब्द क्षय और उपशम से मिलकर बना है।

जब भव्य जीव अपने सहज स्वभाव को पहचान कर उसमें अपनापन करता है, तब श्रद्धा व चारित्र की आंशिक शुद्ध अवस्था होती है, उसको जीव की श्रद्धा और चारित्र की अपेक्षा से क्षायोपशमिक भाव कहते हैं और उसी समय दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मों का स्वयं फलदान सामर्थ्यरूप से उद्भव और अनुद्भव होता है, उसको उस कर्म का क्षयोपशम कहते हैं अर्थात् आत्मा के जिन मिश्र भावों का निमित्त पाकर कर्मों का क्षयोपशम होता है, उन्हें अथवा कर्मों की क्षायोपशमिक रूप दशा के समय होने वाले जीव के विकसित, अविकसित रूप मिश्र भावों को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों के एकदेश क्षय और एकदेश उपशम होने को क्षयोपशम कहते हैं।

विशेष बात ध्यान देने की यह है कि इसमें क्षय व उपशम विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किए गए हैं।

क्षय अर्थात् वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का पूर्ण शक्ति के साथ उदय में न आकर, शक्ति क्षीण होकर उदय में आने को यहाँ क्षय कहा गया है। इसे उदयाभावी क्षय भी कहते हैं।

इसीप्रकार उपशम अर्थात् सत्ता वाले सर्वघाति कर्मों का अकस्मात् ही उदय में न आना ही, उनका सद् अवस्थारूप उपशम है।

संक्षेप में कहें तो सर्वघाति स्पर्धकों का अनंतगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है और उनका देशघातिस्पर्धकों के रूप से अवस्थान होना उपशम है। इन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है। यह क्षयोपशम से युक्त भाव ही क्षायोपशमिक भाव है।

उक्त प्रकार से क्षयोपशम की पूर्ण परिभाषा निम्न प्रकार होगी -

वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्धकों का उदयभावी क्षय, भविष्य में उदय आने योग्य सर्वघाति स्पर्धकों का सद् अवस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय - इन तीन रूप कर्म की अवस्था को **क्षयोपशम** कहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि क्षयोपशम में कुछ कर्मों का उदय भी रहता है; परंतु शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाने के कारण वह जीव के गुण को घातने में समर्थ नहीं होता।

क्षायोपशमिक भाव को भी दो प्रकार से समझा जा सकता है- 1) आत्मा की मुख्यता से और 2) कर्म की मुख्यता से।

1) आत्मा की मुख्यता से - आत्मानुभूति के पुरुषार्थ से होने वाली श्रद्धा और चारित्र की आंशिक शुद्ध अवस्था को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं और उसी समय दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्मों का स्वयं फलदान समर्थ रूप से उद्भव और अनुद्भव होता है, उसको कर्म का क्षयोपशम कहते हैं।

2) कर्म की मुख्यता से – दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मों का फलदान समर्थरूप से उद्भव और अनुद्भव होता है, उसको उस कर्म का क्षयोपशम कहते हैं और उससे युक्त जीव की श्रद्धा व चारित्र संबंधी अवस्था को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि क्षायोपशमिक भाव में भी औपशमिक भाव के समान दो दृष्टियों से कथन किया गया है, जिसमें मात्र कथन भेद ही है।

आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय – इन चार घाति कर्मों में ही मिश्र अवस्था होने से क्षायोपशमिक अवस्था होती है।

क्षायोपशमिक अवस्था आत्मिक गुणों के आंशिक विकास व आंशिक अविकास की स्थिति है। यही इस अवस्था की विशेषता है। इसमें औपशमिक भाव के समान सर्वथा उपशम नहीं होता और न ही क्षायिक भाव के समान सर्वथा क्षय ही होता है। इसमें घाति कर्मों का एकदेश क्षय व एकदेश उपशम है, जिन्हें उदयाभावी क्षय व सद्वस्थारूप उपशम कहा गया है।

क्षायोपशमिक भाव के 18 भेद होते हैं, जो निम्न हैं–

चार ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान), तीन अज्ञान (कुमति, कुश्रुत, कुअवधि), तीन दर्शन (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन), पाँच लब्धियाँ (क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य), क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम।

यह भाव मुक्त जीवों के नहीं होते छद्मस्थों के ही होते हैं। विशेष इतना कि संसारी जीवों में भी 13वें और 14वें गुणस्थान वालों के भी

यह भाव नहीं होते हैं। यह भाव सादि–सांत है। क्षायोपशमिक भाव वालों की संख्या औदयिक भाव वालों से कम और क्षायिक भाव वालों से अधिक है।

इस भाव से पता चलता है कि जीव अनादिकाल से विकार करता हुआ भी जड़ नहीं हो जाता। उसके ज्ञान, दर्शन, वीर्य का आंशिक विकास सदा बना रहता है। वस्तु स्वरूप की सही समझ से, अपने में अपनेपन के पुरुषार्थ से मोहादि विकारी भाव का नाश आरंभ होता है और जैसे–जैसे पुरुषार्थ बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे विकारी भाव पूर्ण नष्ट हो जाते हैं ।

यह भाव भी पर्यायरूप होने से आश्रय करने योग्य नहीं है, अतः हेय ही है।

5. क्षायिक भाव – आत्मा के जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर कर्मों का क्षय होता है, उन शुद्ध भावों को क्षायिक भाव कहते हैं। कर्मों की दृष्टि से कथन किया जाए तो कर्मों के क्षय के समय होने वाले शुद्ध भावों को क्षायिक भाव कहते हैं।

जीव के स्वसन्मुख होने रूप पुरुषार्थ से अशुद्धता का सर्वथा नाश होकर पूर्ण शुद्ध अवस्था प्रकट होती है।

स्वसन्मुख होने रूप पुरुषार्थ अर्थात् परम पारिणामिक भाव रूप सहज स्वभाव में अपनापन होने रूप पुरुषार्थ।

जब जो जीव परम पारिणामिक भाव रूप शुद्ध–आत्मा में अपनेपन की अनुभूति करता है, तब उस जीव के औदयिक भाव रूप विकारी भावों का दूर होना आरंभ होता है और जब उस अपनेपन की अनुभूति में वृद्धि होती है, स्वसन्मुख पुरुषार्थ में वृद्धि होती है, तब सभी कर्मों का नाश होकर सहज स्वभाव पर्याय में भी प्रकट हो जाता

है। इस तरह इस भाव से सिद्ध होता है कि विकारों का सर्वथा नाश संभव है।

यह भाव क्षायिक समकिती, क्षायिक चारित्रवंत और अरिहंत व सिद्धों में पाया जाता है। औपशमिक भाव वालों से अधिक संख्या इस भाव वाले जीवों की होती है।

क्षायिक भाव के 9 भेद होते हैं। जो निम्न हैं- केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, और क्षायिक चारित्र।

यह भाव सादि-अनंत है, पर्यायरूप है; अतः ये भी आश्रय करने योग्य न होने से हेय ही है; किंतु प्रगट करने की अपेक्षा यह उपादेय भी है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि जो जीव अपने दुःखों को दूर कर सुखी होना चाहते हैं; उन्हें हेय, उपादेय, कथंचित् हेय, कथंचित् उपादेय इन पाँचो भावों के सही स्वरूप को समझना आवश्यक है।

पाँचो भावों में भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पारिणामिक भाव है; क्योंकि उसके स्वरूप को समझे बिना उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता और उसका आश्रय लिए बिना धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता संभव नहीं, मुक्ति संभव नहीं।

●

किसके लिए? क्या करना?

(1) गृहीत मिथ्यात्व छोड़ने के लिए देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना।
(2) तत्वार्थ श्रद्धान के लिए तत्त्व विचार करना।
(3) स्व-पर भेद विज्ञान के लिये आपा-पर विचार करना।
(4) अपने में अपनत्व के लिए स्वरूप विचार करना।
(5) आत्मानुभूति के लिए निर्विकल्प अनुभूति होना।

7 चार अभाव

यह पाठ आचार्य समन्तभद्र द्वारा लिखित आप्त मीमांसा के आधार पर लिखा गया है। आप जैन सिद्धान्तों के साथ-साथ न्याय के भी प्रकांड विद्वान थे। आप में बेजोड़ वाद-विवाद शक्ति थी।आपने अनेक बार कुवादियों को वाद-विवाद में हराया था। आप आद्य स्तुतिकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं।

इस पाठ का नाट्य रूपांतर डॉ. हुकुमचंद्र भारिल्ल ने किया है।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण व धर्म हैं। जिसप्रकार भाव (होना) वस्तु का स्वभाव है; उसीप्रकार अभाव (नहीं होना) भी वस्तु का स्वभाव है; किंतु दोनों की अपेक्षा जुदी-जुदी है। जैसे- स्व की अपेक्षा वस्तु का सद्भाव है, सत्ता है और पर की अपेक्षा से वस्तु का अभाव है, सत्ता नहीं है। इसप्रकार अकेला भाव ही वस्तु का स्वरूप नहीं है; अभाव भी वस्तु धर्म है, उसे माने बिना वस्तु की व्यवस्था नहीं बनेगी।

एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अस्तित्व न होना ही अभाव है। अभाव चार प्रकार के होते हैं- 1. प्रागभाव, 2. प्रध्वंसाभाव, 3. अन्योन्याभाव, 4. अत्यंताभाव।

1. प्रागभाव – वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव प्रागभाव है। जैसे- वर्तमान पर्याय रूप दही का पूर्व पर्याय रूप दूध में अभाव।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि दही की पूर्व पर्याय दूध थी, उसमें दही का अभाव था, अतः उस अभाव को प्रागभाव कहेंगे।

प्रागभाव पद दो पदों से मिलकर बना है- प्राक् + अभाव। प्राक् अर्थात् पूर्व में। अभाव अर्थात् नहीं होना।

किसके पूर्व में ?

वर्तमान पर्याय के पूर्व में अथवा प्रागभाव अर्थात् वर्तमान पर्याय

का उसके पूर्व वाली पर्याय में नहीं होना (अभाव) प्रागभाव है। जैसे अन्तरात्मारूप पर्याय का बहिरात्मा रूप पूर्व पर्याय में अभाव प्रागभाव है। दूसरे शब्दों में कहें तो जिसका अभाव होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे प्रागभाव कहते हैं।

इस अभाव को न मानने पर सारी पर्यायें (कार्य) अनादि सिद्ध हो जाएँगी। जैसे- आत्मा को अनादि से केवलज्ञान पर्यायरूप मानना पड़ेगा; क्योंकि केवलज्ञान ज्ञानगुण की पर्याय है और उसका उसके पूर्व की मतिज्ञानादि पर्यायों में अभाव है। जब मतिज्ञानादि पूर्व की पर्यायों का अभाव ही नहीं मानेंगे तो दो दोष उत्पन्न हो जायेंगे। मतिज्ञानादि को भी अनंत मानना पड़ेगा और केवलज्ञान को भी अनादि मानना पड़ेगा। इसप्रकार सारी वस्तु व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। अज्ञानी सदा अज्ञानी रहेगा और आत्मा अनादि से ही केवलज्ञानी हो जाएगा। ऐसा मानना न्यायसंगत भी नहीं और प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है।

प्रागभाव समझने से मैं पापी हूँ, मैंने बहुत पाप किए हैं, मैं कैसे तिर सकता हूँ? आदि हीन भावना निकल जाती है; क्योंकि भूतकाल की पर्याय का वर्तमान पर्याय में अभाव है। यदि जीव पुरुषार्थ करे तो अनादि से विद्यमान मिथ्यात्वादि पापों का वर्तमान में अभाव संभव है।

2. प्रध्वंसाभाव – वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है। जैसे- वर्तमान पर्याय रूप दही का भविष्य की पर्याय रूप छाँछ में अभाव। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि छाँछ दही की भविष्य में होने वाली पर्याय है, जिसका अभी वर्तमान दही में अभाव है।

प्रध्वंसाभाव तीन पद मिलकर बना है – प्र + ध्वंस + अभाव। प्र = प्रकृष्टरूप से, ध्वंस = नाश होना, अभाव = नहीं होना। प्रध्वंसाभाव अर्थात् प्रकृष्ट (पूर्ण) रूप से नष्ट होने वाली वर्तमान पर्याय का भविष्य की पर्याय में नहीं होना। जैसे- अंतरात्मारूप वर्तमान पर्याय का परमात्मारूप भविष्य की पर्याय में अभाव।

दूसरे शब्दों में कहें तो जिसके सद्भाव होने पर नियम से विवक्षित कार्य का अभाव होता है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं।

इस अभाव के न मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनंतकाल तक होते रहेंगे। एक ही दशा अनंत काल तक बनी रहेगी, तो परिवर्तन के विकास के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जाएँगे। जो जहाँ है, जैसा है, वो हमेशा वहाँ ही, वैसा ही रहेगा।

यह बात आप सबमें से किसी को भी स्वीकृत नहीं होगी और प्रत्यक्ष विरुद्ध तो है ही।

प्रध्वंसाभाव समझने से यह ज्ञान हो जाता है कि वर्तमान में कैसी भी दीन– हीन दशा हो, भविष्य में उत्तम से उत्तम प्रकट हो सकती है; क्योंकि वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में अभाव है। अतः जीव भविष्य के प्रति निराश नहीं होता और उसमें स्वसम्मुख होने के पुरुषार्थ का उत्साह जागृत होता है।

3. अन्योन्याभाव – एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है। जैसे– नींबू की वर्तमान खटास, चीनी की वर्तमान मिठास में नहीं है।

विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि यह अभाव मात्र पुद्गल द्रव्य में ही घटता है और पुद्गल द्रव्यों की भी मात्र वर्तमान पर्याय में। पुद्गल स्कन्ध की यह विशेषता है कि यद्यपि वर्तमान कालीन स्कन्ध एक–दूसरे रूप नहीं होते, एक–दूसरे का कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं; तथापि वे कालांतर में अन्य–अन्य रूप हो सकते हैं, एक–दूसरे रूप हो सकते हैं। जैसे– नींबू या चीनी के स्कन्ध जब परमाणु अवस्था को प्राप्त हो; तब पुनः स्कंध होने पर एक–दूसरे रूप हो सकते हैं। वो मात्र अभी वर्तमान में पृथक्–पृथक् हैं, त्रिकाल पृथक् नहीं। शरीर के ऊपर इसे हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। जैसे– वर्तमान में आँख रूप पुद्गल परमाणु, कान रूप पुद्गल परमाणु से

भिन्न-भिन्न हैं, दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं, किंतु भविष्य में शरीर मिट्टी में मिल जाता है और उनसे पुनः शरीर बनने पर किसी भी परमाणु से कुछ भी कार्य हो सकता है।

अन्योन्याभाव पद तीन पदों से मिलकर बना है- अन्य+ अन्य+ अभाव। अन्य = दूसरों का, अन्य = दूसरों में, अभाव = नहीं होना। इसप्रकार अन्योन्याभाव का अर्थ हुआ दूसरे का दूसरे में नहीं होना। जैसे कि टेबल का कुर्सी में अभाव, कुर्सी का टेबल में अभाव, सोने के हार का सोने की चूड़ी में और सोने की चूड़ी का सोने के हार में अभाव।

दूसरे शब्दों में कहें तो वर्तमानकालीन एक पुद्गल स्कंध का वर्तमानकालीन दूसरे पुद्गल स्कंध में नहीं होना अन्योन्याभाव है।

अन्योन्याभाव के न मानने पर पुद्गल स्कंधों की विविधता नहीं बन सकेगी, सब पुद्गल की पर्याय मिलकर एक हो जायेंगी, सभी पुद्गल एकमेक हो जायेंगे; उनमें भेद नहीं किया जा सकेगा। दूसरी बात पुद्गल में भेद हम सभी प्रत्यक्ष देखते हैं, कहते हैं, करते हैं; अतः पुदगल में भेद करने वाला अन्योन्याभाव न मानना प्रत्यक्ष बाधित व स्ववचन बाधित भी हो जाएगा।

अन्योन्याभाव के जानने से स्वाधीनता का भाव जाग्रत होता है; क्योंकि जब एक पुद्गल की पर्याय, दूसरे पुद्गल की पर्याय से पूर्ण भिन्न एवं स्वतंत्र है, तो फिर यह आत्मा से तो जुदी है ही और सभी स्कन्धों की स्वतंत्रता का ज्ञान होने से उनमें फेरफार का भाव नहीं रहता, पर कर्तृत्व का भाव भी नष्ट हो जाता है।

4. अत्यंताभाव - एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव को अत्यंताभाव कहते हैं। जैसे- जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य में परस्पर अत्यंताभाव है।

अत्यंताभाव पद अत्यंत+अभाव इन दो पदों से मिलकर बना है। अत्यन्त = सर्वथा, पूर्णता, अभाव = नहीं होना अर्थात् एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में पूर्ण रूप से तीन काल में कभी भी नहीं होने को अत्यंताभाव कहते हैं। जैसे जीव द्रव्य व पुद्गल द्रव्य रूप शरीर की मिली-जुली मनुष्यादि पर्याय में जीव हमेशा जीवरूप ही रहता है, पुद्गल रूप नहीं होता और पुद्गल रूप शरीर पुद्गल ही रहता है, जीव रूप नहीं होता।

अत्यंताभाव नहीं मानने पर सब द्रव्य अपने-अपने स्वरूप को छोड़ देंगे, किसी द्रव्य का अपना कोई स्वरूप नहीं रहेगा तो प्रत्येक द्रव्य की भिन्नता ही नहीं रहेगी, जगत के सभी द्रव्य एक हो जायेंगे। पुद्गल, जीव व जीव, पुद्गल हो जाएगा; जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

अत्यंताभाव समझ आने पर यह समझ में आ जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता। ऐसा समझने से दूसरा मेरा बुरा कर देगा- ऐसा अनंत भय निकल कर निर्भयता आ जाती है और दूसरे मेरा भला कर देंगे- ऐसी पर से अपेक्षा का भाव समाप्त होकर स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।

चारों अभावों में विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि एक अत्यंताभाव ही द्रव्य सूचक है, बाकी तीन अभाव पर्याय सूचक हैं। प्रागभाव छहों द्रव्यों में से किसी एक ही द्रव्य की वर्तमान व पूर्व पर्यायों में घटित होता है और प्रध्वंसाभाव छहों द्रव्य में से किसी एक ही द्रव्य की वर्तमान और उत्तर पर्यायों में घटित होता है। अन्योन्याभाव दो पुद्गलों की वर्तमान पर्यायों में घटित होता है और अत्यंताभाव छहों द्रव्य में से किन्हीं दो द्रव्यों में घटित होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि चारों अभावों को समझने से भूतकाल और वर्तमान की कमजोरी और विकार देखकर उत्पन्न होने वाली दीनता समाप्त हो जाती है। भविष्य में होने वाले अनिष्ट का डर समाप्त हो जाता है, पर से आशा की चाह समाप्त होती है और स्वाधीनता व स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है।

●

8 पाँच पांडव

यह पाठ आचार्य जिनसेन द्वारा रचित हरिवंशपुराण के आधार से लिखा गया है। इसका नाट्य रूपांतर डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल ने किया है। इस पाठ में पांडवों के जीवन में घटित उतार-चढ़ावों का वर्णन विशेष तौर पर किया गया है, जिनसे कुछ सीख लेकर हम हमारे जीवन में उन दुर्गुणों, गलतियों से बचने का प्रयास कर सकें।

सर्वप्रथम लेखक ने जुआ से होने वाली हानियों को दर्शाते हुए कहा है कि जुआ बहुत बुरा व्यसन है। ये आत्महित में तो बाधक है ही, साथ-ही-साथ व्यसन से हमारा लौकिक जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है।

हार-जीत पर दृष्टि रखते हुए रुपए पैसे या किसी प्रकार के धन से खेल खेलना या शर्त लगाकर कोई काम करना या दांव लगाना ही जुआ है।

शर्त लगाकर खेल खेलने से ही महाप्रतापी पांडवों को भी बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं। अतः हमें यदि अनेक कठिनाइयों से बचना है तो शर्त लगाकर कोई कार्य नहीं करना चाहिए। **जुए के समान सातों व्यसन ही दुखदायी हैं। अतः हमें सातों व्यसन का त्याग करना चाहिए।**

कौरव व पाण्डव के बीच में होने वाला युद्ध 'महाभारत' के नाम से जाना जाता है, संपत्ति के लोभ के कारण हुआ; जो कि कौरवों के सर्वविनाश का कारण बना।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि जो दूसरे के अधिकार क्षेत्र की संपत्ति हड़पना चाहते हैं, उनकी नियति भी अंत में कौरवों जैसी ही होती है।

सगे भाई भी एक–दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं और उनका जीवन दु:खों से भर जाता है। आज भी अधिकांश घरों में 'महाभारत' जैसी स्थिति बनी हुई है।

इन परिस्थितियों से बचने के लिए 'लोभ' का त्याग करना चाहिए।

कौरवों द्वारा पांडवों को जिंदा जलाने की कोशिश की घटना द्वारा हिंसात्मक प्रवृतियों से दूर रहने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि हिंसात्मक प्रवृतियों से देश व समाज के साथ–साथ स्वयं के नष्ट होने की स्थिति भी बन जाती है। वस्तुतः तो दूसरों को दुःख देने के उद्देश्य से किए गए हिंसादि पाँचों पापों द्वारा दूसरे दुःखी हों या ना हों, पर हम स्वयं तो दुःखी हो ही जाते हैं। **अतः यथासंभव पाँचों पापों का भी त्याग करना चाहिए।**

द्रौपदी महासती के पाँच पति के अपवाद की कहानी से यह शिक्षा मिलती है कि **स्वयं किए गए पापों की सजा या फल हमें स्वयं ही भोगना पड़ता है।** वह चाहें इस भव में मिले या अगले भव में। जैसे भाव हम करते हैं, वैसे कर्म बंधते हैं, जैसे कर्म बंधते हैं, वैसे ही समय पाकर उदय में आते हैं, फल देते हैं। **इसप्रकार हमारे अच्छे–बुरे भविष्य के निर्माता हम स्वयं है, अन्य कोई नहीं।** कीचक की घटना भी इसी बात को पुष्ट करती है। अतः यदि हम अपना उज्ज्वल सुखदायी भविष्य चाहते हैं तो हमें ज्ञाता–दृष्टा बनकर ही रहना चाहिए, साम्य भाव अपनाना चाहिये।

वस्तुतः तो **आत्मा का हित तो आत्मा को समझकर, उससे भिन्न पर पदार्थों से ममत्व हटाकर ज्ञान स्वभावी आत्मा में एकाग्र होने में है।** लौकिक लाभ–हानि, सम्पत्ति–विपत्ति तो पुण्य–पाप का खेल है, उसमें आत्मा का हित नहीं। यह आत्मा व्यर्थ ही पुण्य के उदय में हर्ष

और पाप के उदय में विषाद मानता है। मनुष्य भव की सार्थकता तो जगत से ममत्व हटाकर आत्मकेन्द्रित होने में है।

अपने जीवन के उतार–चढ़ाव को देखकर पांडवों को जब उक्त वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हुआ, तब उन्होंने दिगंबरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

आत्मसाधनारत उन पांडव मुनिराजों का कुछ पापोदय अभी भी शेष था; अतः उनके ऊपर गर्म लोहे के आभूषणों का उपसर्ग हुआ। यह पापोदय रूप उपसर्ग भी युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन को आत्मसाधना से विचलित न कर सका; अपितु वे बाह्य सभी विकल्पों को त्यागकर, शरीर से भी उपयोग हटा कर आत्मामय हो गए। इसी आत्मलीनता की स्थिति में, आत्मध्यान रूपी ज्वाला में उन्होंने शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर दिया। शेष दो पांडव नकुल व सहदेव के अंतरोन्मुखी आत्मा के उग्र पुरुषार्थ में कुछ कमी रह गई। वे लगातार अंतर्मुहूर्त तक आत्मा में लीन न रह सके। उपयोग बाहर आया, कुछ शुभ भाव आये। किंवंदती है कि उन्हें साधर्मी मुनिराजों की सुरक्षा का भाव उठा था। यही भाव उनकी वह कमजोरी थी जिससे वे पूर्ण स्वतंत्रता की मुक्ति से वंचित हो स्वार्थसिद्धि की जेल में लंबे समय तक के लिए कैद हो गए। इससे भी यही सिद्ध होता है कि **सुरक्षा का भाव भी बंध का कारण है संसार बढ़ाने वाला है।** सही ही है हम पर में कुछ कर सकते नहीं; पर उनमें करने के भाव से हम अपना ही संसार बढ़ा लेते हैं।

संक्षेप में कहें तो आत्मसाधना के बिना लौकिक जीत–हार का कोई महत्त्व नहीं है। **आत्मा की सच्ची जीत तो मोह–राग–द्वेष को जीतने में है।** पांडवों ने न केवल यह समझा था, अपितु जीवन में भी उतारा था। राग–द्वेष पर विजय प्राप्त कर तीनों पांडवों ने शत्रुंजय से सिद्ध पद प्राप्त किया। आजकल वह पालीताना नाम से प्रसिद्ध है। ●

9 भावना बत्तीसी

यह पाठ आचार्य अमितगति द्वारा रचित भावना त्रिविंशतिका का हिंदी पद्यानुवाद है; जो कि श्री जुगल किशोर जी युगल कोटा ने किया है। चूँकि इसमें 32 छंदों में शिष्य की भावना बताई जा रही है, अतः इसका नाम भावना बत्तीसी दिया गया है।

इस स्तुति की कुछ खास विशेषताएँ निम्न हैं–

1. इसमें कवि ने उत्तम पुरुष में बात की है, मानो वे अपने ही स्थिति का वर्णन कर रहे हों। अन्य पुरुष की अपेक्षा उत्तम पुरुष में बताए गए गुण–दोष अधिक प्रभावी होते हैं।

2. आज तक हम परमात्मा में जिन गुणों की विद्यमानता देखकर उन्हें महान मानते आ रहे हैं, वे सभी गुण शुद्ध–आत्मा में भी विद्यमान हैं। अतः जो–जो विशेषण परमात्मा के होते हैं, वे सभी शुद्ध–आत्मा के भी हो सकते हैं। यही कारण है कि इस स्तुति में शुद्ध–आत्मा के वे सभी विशेषण दिए हैं।

3. इसमें अपनी आत्मा, शुद्ध–आत्मा को परमदेव,परम शरण,सत्य,शिव,सुन्दर कहा गया है।

4. यह मुक्तिपथ के पथिक साधक द्वारा की जा रही स्तुति है। इस स्तुति में साधक के अंतरंग में होने वाले सभी भावों का चित्रण किया गया है।

प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणीजनों में हर्ष प्रभो।
करुणा–स्रोत बहें दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो।।1।।

संदर्भ – इस छन्द में ज्ञानी सभी जीवों के प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि –

अर्थ – हे भगवन ! मेरा सभी जीवों के प्रति प्रेम भाव हो। गुणवान व्यक्तियों को देखकर मेरे मन में प्रसन्नता का भाव हो। दुःखी जीवों को देखकर मेरे मन में दया के झरने बहने लगें और दुर्जन (दुष्टजनों) के प्रति मेरे मन में मध्यस्थता बनी रहे, समता भाव बना रहे।

व्याख्या – इस छंद की प्रथम पंक्ति में श्रद्धालु भक्त सर्वप्रथम सभी जीवों के प्रति अपनी सामान्य भावना व्यक्त कर रहा है, फिर विशेष व्यक्तियों के प्रति विशेष भाव। कुछ जन गुणवान व्यक्तियों को देखकर ईर्ष्या भाव रखते हैं, अतः यहाँ कवि कह रहे हैं कि मेरा मन इतना मैला न हो, मुझे तो गुणवानों को देखकर प्रसन्नता होनी चाहिए, दुःखी जनों के दुःख दूर करने की भावना हो और दुर्जनों के प्रति भी द्वेष भाव न होकर मध्यस्थ भाव बना रहे। इसप्रकार इस छंद में दिन-रात संपर्क में आने वाले सज्जन-दुर्जनरूप परजीवों के प्रति अपने व्यवहार को बताने के पश्चात् दूसरे छंद में अपने प्रति अपने आचरण को बताया जा रहा है।

यह अनन्त बल-शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको ।।2।।

संदर्भ – इस छंद में भेदविज्ञान की भावना भाते हुए कहा गया है कि –

अर्थ – हे भगवान ! जिसप्रकार तलवार म्यान से अलग हो जाती है, पूर्ण पृथक् हो जाती है; उसीप्रकार मैं भी अनंतवीर्य से युक्त आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न अनुभव कर सकूँ- ऐसी अनंत शक्ति आप मुझे प्रदान करें!

व्याख्या – इस छंद में भावुक होता हुआ भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि आप मुझे स्व-पर में भेद करने की शक्ति प्रदान करें। यद्यपि भक्त अच्छी तरह से जानता है कि भगवान मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं,

वे कुछ करते–धरते नहीं हैं। फिर भी भक्तिवश वह ऐसी भावना भाता है। इसके पश्चात् तीसरे छंद में वह स्वयं के लिए साम्यभाव की भावना भा रहा है।

सुख–दुख, वैरी–बन्धु वर्ग में, काँच–कनक में समता हो।
वन–उपवन, प्रासाद–कुटी में, नहीं खेद नहिं ममता हो।।3।।

संदर्भ – इस छंद में कवि अपने जीवन में आने वाले उतार–चढ़ावों के समय साम्यभाव धारण करने की भावना भाते हुए कहते हैं कि–

अर्थ – मेरे जीवन में चाहे काँच की उपलब्धि हो या सोने की – दोनों के मिलने पर समता भाव ही हो। मेरे संपर्क में चाहे शत्रु आएँ या मित्र दोनों के प्रति मुझमें एक सा भाव ही होना चाहिए। इसीप्रकार मेरे जीवन में चाहे दुःख आएँ या सुख – दोनों परिस्थितियों में मेरे मन में समता भाव बना रहे। विशेष क्या कहूँ ? मैं चाहे जंगल में रहूँ या बगीचे में, कुटिया में रहूँ या महल में– दोनों में ही मुझे विपरीत परिस्थिति में दुख और अनुकूल परिस्थिति में ममता भाव नहीं होना चाहिए।

व्याख्या – इस छन्द में कवि अपने अंदर पनपने वाले विकारी भावों से रहित स्वभाव भाव को प्राप्त करने की भावना भा रहा है। वह चाह रहें है कि विपरीत परिस्थितियों में मुझे वेदना न हो, दुःख न हो, द्वेष भाव न हो और अनुकूल परिस्थितियों में मुझे प्रसन्नता न हो, राग भाव न हो, मुझे चाहे जंगल में रहना पड़े या कुटिया में – दोनों ही परिस्थितियों में मुझे खेद–ख़िन्न नहीं होना चाहिए और बगीचा या महल में रहने पर उनसे ममत्व नहीं होना चाहिए। चाहे मुझे कांच की उपलब्धि हो, शत्रु व दुःखों से घिरा रहा हूँ अथवा सोने की उपलब्धि हो और मित्र व संसारिक सुखों से घिरा हुआ हूँ – दोनों ही परिस्थितियों में मैं राग–द्वेष रहित साम्यभाव धारण कर सकूँ – ऐसी अनंत शक्ति मुझे चाहिए। ऐसे साम्यभाव की प्राप्ति आपने की है – यही बात छंद–4 में बतायी जा रही है।

जिस सुन्दरतम पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ।
वह सुंदर-पथ ही प्रभु मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ।।4।।

संदर्भ – मोहादि विकारी भावों को जीतने के मार्ग पर चलने की भावना भाते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – हे भगवान ! जिस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सर्वोत्कृष्ट मार्ग पर चलकर आपने काम,क्रोध,मोह आदि विकारी भावों पर विजय प्राप्त की है, वही सर्वोत्तम मार्ग मेरे भी शोध-खोज का विषय बने।

व्याख्या – इस छंद में मोक्ष व मोक्षमार्ग – दोनों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए स्वयं भी उसी मार्ग को जानकर, पहचानकर उस पर चलने की भावना भाई गई है।

जिस रत्नत्रय के मार्ग पर चलकर भगवान ने विकारी भावों को जीत कर मोक्ष पद प्राप्त किया है; उसी सर्वोत्तम मार्ग को जानकर, पहचानकर, शोध – खोजकर उसी पर चलने की भावना भाकर कवि ने स्वयं की मोक्षपद प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की है।

इसके पश्चात् कवि का भावुक हृदय मुखर हो उठा है, अतः 5 वें छन्द से 10 तक के छह छंदों में अनादिकाल से अब तक किये गए अपने अपराधों को विस्तार से बता रहे हैं।

एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो।।5।।

संदर्भ – अपने दैनिक जीवन में होने वाली हिंसादि क्रियाओं का प्रायश्चित करते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – यदि मुझसे अनजाने में एकेन्द्रिय जीवों की भी हिंसा हो गई हो तो मैं पवित्र हृदय से माफी माँगता हूँ और हे प्रभु ! आप मेरे उन दुष्ट कार्यों को निष्फल कर दें अर्थात् उनका फल मुझे न मिले।

व्याख्या – इस छंद में कवि कह रहे हैं कि सज्जन जन जानबूझकर तो हिंसादि पाप करते ही नहीं हैं, किंतु अनजाने में कभी भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का घात हो ही जाता है। अतः मैं चाहता हूँ कि अनजाने में हुए उन दुष्कृत्यों को माफ़ कर दें, मुझे उनका पापरूप फल न मिले।

इस छंद में अनजाने में हुए अपराधों को भी दुष्कृत्य कहा है और भक्त उनके लिए भी प्रायश्चित कर रहा है; अतः जानबूझकर हिंसादि क्रियाएँ करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके पश्चात् छठवें छंद में जानबूझकर हुई गलतियों को बतलाकर उनके दूर होने की भावना भाई जा रही है।

मोक्षमार्ग प्रतिकूल प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ–गमन सब कालुष मेरे, मिट जायें सद्भावों से ।।6।।

संदर्भ – इस छन्द में कवि अज्ञानी के आंतरिक दोष और उनसे बचने का उपाय बताते हुए कह रहे हैं कि –

अर्थ – आज तक मैंने कषायों के वशीभूत होकर मोक्षमार्ग के विपरीत प्रवृत्ति की है, उल्टे रास्ते पर ही चल रहा हूँ; लेकिन अब मुझे सत्पथ (सच्चे रास्ते) का ज्ञान हो गया है; अतः सद्भावों में मेरी प्रवृत्ति होने लगी है, जिससे मेरे समस्त विभाव भावों की कलुषता समाप्त हो जाये।

व्याख्या – इस छंद में कवि कह रहे हैं कि भक्त को मोक्ष का सही मार्ग मिल गया है, जिस पर चलने से उसकी कषायें कम होने लगी हैं, कलुषता समाप्त होने लगी है। अतः वह अब भगवान से प्रार्थना कर रहा है कि अब तक अज्ञान भाव से जो–जो भी मेरी विपरीत प्रवृत्तियाँ हुई हैं, वे सभी सद्भाव से समाप्त हो जावें।

इसके पश्चात् सातवें छन्द में अपने पापों को शांत कराने का दृढ संकल्प किया गया है।

चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु! मैं भी आदि उपाँत।
अपनी निंदा आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त।।7।।

संदर्भ – इस छन्द में कवि अनादिकालीन पापों को शांत करने का उपाय बताते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभु ! जिसप्रकार होशियार वैद्य विष को नष्ट कर देता है; उसीप्रकार मैं भी अनादि से लेकर अभी तक के सभी पापों को अपनी निंदा व आलोचना से शांत करता हूँ।

व्याख्या– इस छंद में अनादिकालीन मिथ्यात्व पाप को शांत करने की भक्त की दृढ़ इच्छा शक्ति को बताया जा रहा है। अनादिकालीन पाप मिथ्यात्व एकदम से नष्ट नहीं होता है। पहले वह शांत (उपशम) होता है, बाद में ही नष्ट होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इसमें अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि की चर्चा की जा रही है। अनादिकालीन ऐसा मिथ्यादृष्टि जिसे तत्त्वज्ञान द्वारा वस्तु की सही समझ हो गई है और जिसने उपशम समयग्दर्शन प्राप्त करने के लिए कमर कस ली है।

आलोचना दो प्रकार की होती है– निश्चय आलोचना और व्यवहार आलोचना।

अपने परिणामों को समता भाव में स्थापित कर अपने आत्मा की अनुभूति ही निश्चय आलोचना है।

गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से अपने सभी छोटे या बड़े दोषों को कह देना व्यवहार आलोचना है। प्रतिक्षण उदय में आने वाली कषायों से उत्पन्न जो अंतरंग व बहिरंग दोष साधक के प्रतीति में आते हैं, जीवनशोधन के लिए उनका दूर करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये आलोचना सबसे उत्तम मार्ग है। यह नग्न दिगम्बर गुरु के समक्ष ही की जाती है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि यह स्तुति मुक्तिपथ के पथिक साधक द्वारा की जा रही है। इसमें सर्वप्रथम 6 छंदों में अपने छोटे-बड़े, अंतरंग-बहिरंग सभी दोषों को गुरुओं के समक्ष प्रस्तुत कर आलोचना की गई है और अपने में साम्यभाव की स्थापना की भावना भाई गयी है।

निश्चय-व्यवहार दोनों आलोचना द्वारा पापों को शांत करने के पश्चात् आठवें से दसवें छंदों में आचरण में होने वाली गलतियों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत प्रवर्तन करके, शीलाचरण विलीन किया।।8।।

संदर्भ – इस छंद में पाँचों पापों के त्याग से संबंधित होने वाली भूलों को बताते हुए कवि कहते हैं कि-

अर्थ- मैं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन करते हुए अत्यंत खेद-खिन्न हुआ, दुःखी हुआ और अपने हृदय को मलिन करता रहा। कभी-कभी व्रतों के विपरीत (उल्टा) आचरण भी किया; जिससे मेरा सदाचार ही नष्ट हो गया।

व्याख्या – इस छन्द में हिंसादि पाँचों पापों के त्याग रूप अहिंसादि आचरण करने में हुए दो दोषों को बताया गया है- 1. कभी तो व्रतों के धारण करने में मन को दुःखी करता है। जैसे मैंने किसी के चंगुल में फंसकर व्रत धारण कर लिया, इससे तो अच्छा मैं पहले मज़े से जीवन जी रहा था। 2. कभी व्रतों से विपरीत ही प्रवृत्ति करने लगा। जैसे- हिंसादि में प्रवर्तना।[1]

इसके पश्चात् 9वें छंद में पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों में उलझने की गलती की ओर ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

टिप्पणी :- 1. व्रतों में विपरीत प्रवृत्ति की चर्चा कवि ने 10वें छंद में की है।

कभी वासना की सरिता का, गहन–सलिल मुझ पर छाया।
पी–पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया।।9।।

संदर्भ – इस छन्द में कवि विषय–भोगों में रमने को पागलपन बताते हुए कह रहे हैं कि–

अर्थ – कभी मैं कामवासना रूपी नदी में गहराई तक डूब कर सुध–बुध खो बैठा और कभी पंचेन्द्रिय विषयों के भोगों की मदिरा का पान कर मदहोश हो गया।

व्याख्या – इस छंद में कवि ने पंचेन्द्रियों के विषयों में रमने को पागलपन कहा है एवं स्पर्श इंद्रिय के विषय कामवासना को गहरे जल में डूबने की उपमा दी है। जिसप्रकार कोई गहरे जल में डूब कर बेहोश हो जाता है, सुध–बुध खो बैठता है; उसीप्रकार मैं भी कामवासना वश अपनी सुध–बुध खो बैठा तथा जिसप्रकार कोई शराबी पागलों सी क्रिया करता हुआ माँ, बहन, बेटी में अंतर नहीं कर पाता; उसीप्रकार मैं भी पंचेन्द्रियों की विषयभोग रूपी मदिरा का पान कर स्व–पर विवेक रहित हो गया और पागलों सा पर को अपना व इंद्रियों को सुख का साधन मानता रहा।

इसके पश्चात् 10वें छंद में कषायों के वश होने वाले गलत आचरण के बारे में बताया जा रहा है।

मैंने छली और मायावी, हो असत्य आचरण किया।
पर–निन्दा गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया।।10।।

संदर्भ – इस छंद में मन–वचन–काय– तीनों में होने वाली गलतियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – मैंने कभी मायाचारी व छल–कपट के वश होकर झूठ का सहारा लिया, कभी दूसरों की निंदा,चुगली आदि की और बिना विचारे जो कुछ भी मन में आता रहा, उसे बकने लगा, मानो मन के भावों की उल्टी हो रही हो।

व्याख्या – इस छन्द में कवि अपनी बात के माध्यम से सभी जीवों की बात कर रहे हैं। जो चित्रण कवि ने किया है, वह सब हम अपने आसपास व स्वयं के जीवन में भी होते देखते हैं।

इसमें कवि छल-कपट व मायाचारी की बात कहकर कहना चाह रहें है कि हम कभी कषायों के वश होकर हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों रूप प्रवर्तन करते हैं; तो कभी मन में उठने वाले विकारी भावों के वश होकर एक-दूसरे को लड़ाने-भिड़ाने का काम करते हैं, तो कभी किसी की निंदा करने लगते हैं। अधिक क्या कहें ? हमारे मन में जो कुछ भी होता है, उसे वाणी से उगलने लगते हैं।

इसप्रकार कवि ने इन छह छंदों के माध्यम से मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमोदन से होने वाले आंतरिक विभाव भावों को बताया है।

इसके पश्चात् वे अब उनको दूर करने की भावना भा रहे हैं।

निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे।।11।।

संदर्भ – इस छंद में कवि शुद्धज्ञान प्राप्ति की भावना भाते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – मेरा मन मानादि कषायों से रहित उज्ज्वल हो। मैं हमेशा इस बात का ध्यान रखूँ कि कभी झूठ ना बोलूँ, सदा सत्य ही बोलूँ और मेरे हृदय में निर्मल पानी की नदी के समान निर्मल ज्ञान ही बहता रहे।

व्याख्या – इस छन्द में कवि अपनी चाहत व भावी जीवन की रूपरेखा बताते हुए कह रहे हैं कि अब मेरा मन क्रोधादि कषायों के वश प्रवृत्ति न करे, न ही हिंसादि पापों का सेवन करे। इसके विपरीत मेरा मन मानादि कषायों से रहित उज्ज्वल हो जाए। मैं हमेशा इस बात

का ध्यान रखूँ कि कभी असावधानीवश भी मैं झूठ न बोलूँ और इस बात का हमेशा ध्यान रखूँ कि मैं सदा सत्य ही बोलूँ। निर्मल जल की नदी के समान मेरे हृदय में भी शुद्ध ज्ञान की धारा बहती रहे अर्थात् मैं शुद्ध ज्ञान में ही तन्मय हो जाऊँ। चूँकि शुद्ध ज्ञान में तन्मयता से ही धर्म का आरंभ होता है और लगातार शुद्ध ज्ञान में तन्मय होने पर धर्म की पूर्णता होती है। अतः कवि शुध्द ज्ञान की अविरल धारा बहने की भावना कर रहे हैं।

इसके पश्चात् 12 से 21 तक के 10 छंदों में शुद्ध ज्ञान से परिपूर्ण शुद्ध आत्मा रूपी परमदेव की विशेषताएँ बताई जा रही हैं।

मुनि चक्री शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद पुराण जिसे वह, परम देव मम हृदय रहे।।12।।

संदर्भ – इस गाथा में शुद्ध आत्मा को ही परम देव कहते हुए कवि कह रहे हैं कि –

अर्थ – अनंत गुणों व अनंत धर्मों के धारी शुद्ध आत्मा का ध्यान मुनिराज, चक्रवर्ती आदि इंद्र भी करते हैं, जो उनके हृदय में हमेशा चिंतन-मनन का विषय बना रहता है, जिसके गीत वेद व पुराणों में भी गाए गए हैं- ऐसा परमदेव वह शुद्ध आत्मा मेरे हृदय में भी सदा विद्यमान रहे।

व्याख्या – इस छन्द में समस्त विकारी भावों से रहित कारण परमात्मारूप शुद्ध ज्ञान को ही परमदेव कहा गया है; क्योंकि उसके आश्रय से, उसमें लीन होने से ही कार्य परमात्मा रूप अवस्था प्राप्त होती है। उस परमदेव रूप आत्मा की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि उसमें ज्ञानादि अनंत गुण व परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले नित्य-अनित्य आदि अनंत धर्म विद्यमान हैं।

अनंत गुणात्मक, अनंत धर्मात्मक परमदेव रूप शुद्ध आत्मा की महिमा बताते हुए कवि कह रहे हैं कि समस्त जिनवाणी उसके गुण गानों से भरी पड़ी है। उसका ध्यान सभी मुनिराज, चक्रवर्ती व इंद्र भी

करते हैं और अन्य शास्त्र वेद आदि भी। ऐसा परमदेव रूप शुद्ध आत्मा मेरे भी ज्ञान का ज्ञेय,ध्यान का ध्येय बने। मेरा मन सदा उसी के चिंतन-मनन में लगा रहे।

इसके पश्चात् 13वें छंद में भी हमें परमदेव रूप शुद्ध आत्मा का स्वरूप बताया जा रहा है।

दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परम देव मम हृदय रहे।।13।।

संदर्भ – इस छन्द में कवि आत्मा के शुद्ध स्वभाव को बताते हुए कह रहे हैं कि –

अर्थ – वह आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभावी है, जिसमें विकारों का अंश मात्र भी नहीं है, जो परम ध्यान का विषय है, वही परम आत्मा (परमात्मा) है। ऐसा वह परमदेव मेरे हृदय में सदा निवास करें।

व्याख्या – इस छंद में शुद्ध-आत्मा को ही परमात्मा कहा है। परमात्मा अर्थात् परम आत्मा, सर्वोत्कृष्ट आत्मा। विकारों से रहित निर्मल आत्मा ही परम आत्मा है; क्योंकि उसी के निरंतर चिंतन-मनन-ध्यान से आत्मा,परमात्मा (भगवान) बनता है। ऐसा परम आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभावी है। यही परम आत्मा मेरे भी हृदय में सदा निवास करे अर्थात् चिंतन का विषय बने।

इसके पश्चात् 14 वें छन्द में शुद्ध आत्मा को ही महान देव कहा जा रहा है।

जो भवदुःख का विध्वंसक है, विश्व विलोकी जिसका ज्ञान।
योगी जन के ध्यान गम्य वह, बसे हृदय में देव महान।।14।।

संदर्भ – इस छंद में कवि शुद्ध ज्ञान (आत्मा) की अन्य विशेषताओं को बताते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – आत्मा में विद्यमान ज्ञान द्वारा संपूर्ण विश्व को जाना जा सकता है। वह ज्ञान ही संसार दुःखों को नष्ट करने वाला है; अतः साधुजन भी उसी आत्मा का ध्यान करते हैं – ऐसे शुद्ध–आत्मा रूपी परमदेव मेरे हृदय में सदा वास करें।

व्याख्या – इस छन्द में ज्ञान स्वरूपी आत्मा को ही महान देव कहा गया है; क्योंकि ज्ञान द्वारा ही संपूर्ण विश्व को जाना जा सकता है, संसार दु:खों को नष्ट किया जा सकता है। दु:खों को नष्ट करने वाला, संपूर्ण लोक को जानने वाला ज्ञान, ध्यान से प्राप्त होता है। अतः योगीजन उस ज्ञान स्वरूपी आत्मा का ध्यान करते हैं। वैसा ज्ञान स्वरूपी आत्मा मेरे हृदय (चिंतन) में निरंतर बना रहे।

इसके पश्चात् 15 वें छंद में उस शुद्ध आत्मा की जन्म–मरण से रहित आदि विशेषताओं को बताया जा रहा है।

मुक्ति–मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म–मरण से परम अतीत।
निष्कलंक त्रैलोक्य–दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप ।।15।।

संदर्भ – इस छन्द में आत्मा की अनादि–अनंतता बताते हुए कहा जा रहा है कि –

अर्थ – वह शुद्ध–आत्मा जन्म–मरण से रहित है, मुक्ति मार्ग को दिखाने वाला है, कर्म कालिमा से रहित है और तीन लोक व तीन काल को एक साथ देखने की शक्ति वाला है – अतः वही हमारे लिए देव है; वह मेरे हृदय के समीप सदा रहे।

व्याख्या – इस छन्द में आत्मा की अनादि–अनंतता सिद्ध करते हुए कहा गया कि जन्म से रहित होने के कारण आत्मा अनादि है, मरण से रहित होने के कारण अनंत है। आत्मा का अनुभव ही मुक्ति मार्ग को प्रशस्त करने वाला है। आत्मा सदा कर्म कलंक से अछूता ही रहता है। आत्मा में ही त्रिलोक को जानने की शक्ति है– ऐसी महान आत्मा ही देव है और वह मेरे हृदय में सदा निवास करे।

इसके पश्चात् एक बार पुनः आत्मा के ज्ञान गुण की विशेषताएँ 16वें छन्द में बतायी जा रही हैं।

निखिल–विश्व के वशीकरण में, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे।।16।।

संदर्भ – इस छंद में शुद्ध ज्ञान के स्वरूप को बताते हुए कहा जा रहा है कि–

अर्थ – आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूपी है। वह इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता, अतः अतीन्द्रिय है। समस्त विश्व के सभी प्राणी जिसके आधीन हैं,वश में हैं– ऐसे राग–द्वेष जिस आत्मा में नहीं हैं, वह परमदेव स्वरूप शुद्ध आत्मा मेरे हृदय में निवास करे।

व्याख्या – इस छंद में संसारी जीवों की स्थिति के उदाहरण द्वारा आत्मा की विशेषता बताते हुए कवि कह रहे हैं कि संसार के समस्त जीव राग–द्वेष के वश हो जाते हैं, आत्मा को वे राग–द्वेष छू भी नहीं सकते। आत्मा तो शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, इंद्रियों से जाना नहीं जा सकता; अतः अतीन्द्रिय है। ऐसा ज्ञान स्वरूप आत्मा ही परमदेव है। मेरा हृदय हमेशा उसी के चिंतन–मनन में रहे।

इसके पश्चात् 17 से 21 तक के 5 छंदों में ज्ञान स्वरूप आत्मा के सदा साथ रहने के फलस्वरूप प्राप्त परमात्म दशा (कार्य परमात्मा) के स्वरूप को बताया जा रहा है।

देख रहा जो निखिल–विश्व को, कर्मकलंक विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र।।17।।

संदर्भ – इस छंद में कवि सिद्ध भगवान के गुण स्मरण करते हुए भावना भाते हैं कि –

अर्थ – हे प्रभु! आप कर्म कालिमा से रहित हैं, विकार रहित हैं, मल रहित हैं, स्वच्छ हैं, निर्मल हैं और संपूर्ण विश्व को एक साथ, एक समय में जान रहे हैं, देख रहे हैं। ऐसे वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान आप मेरा हृदय भी पवित्र करें।

व्याख्या – इस छंद में भगवान की वीतरागता व सर्वज्ञता को याद करते हुए कवि स्वयं भी उसे पाने की भावना भा रहे हैं। आठ कर्मों से रहित वीतरागी भगवान पर्याय से भी पवित्र हो गए हैं, निर्मल हो गए हैं, निर्विकार हो गए हैं। अपने अद्भुत पूर्ण ज्ञान स्वभाव को प्राप्त वे वर्तमान में भी संपूर्ण विश्व को एक साथ देख रहे हैं। ऐसे वीतरागी, सर्वज्ञ देव मेरे हृदय को पवित्र करें अर्थात् मैं भी उनके बताए मार्ग पर चलकर उन जैसा बन जाऊँ।

इससे पूर्व 15 वें, 16 वें छंद में आत्मा के निर्विकारी, निष्कलंक, पूर्ण शुद्ध अतीन्द्रिय द्रव्य स्वभाव को बताया गया था। इस छंद में उस द्रव्य स्वभाव के आश्रय से प्राप्त पर्याय से भी पूर्ण शुद्ध सिद्ध भगवान का स्वरूप बताया गया है।

इसके पश्चात् 18 वें छंद में अरिहंत भगवान का स्वरूप बताया जा रहा है।

कर्मकलंक अछूत न जिसका, कभी छू सके दिव्यप्रकाश।
मोह–तिमिर को भेद चला जो, परम शरण मुझको वह आप्त।।18।।

संदर्भ – इस छंद में अरहन्त देव की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि–

अर्थ – जिनके केवलज्ञान की दिव्यता को कर्म की कालिमा छू भी नहीं सकती। जिनके मोहादि विकारी भाव (घातिकर्म) नष्ट हो गए हैं – ऐसे वे वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी भगवान आप ही मेरी परम शरण हैं।

व्याख्या – इस छंद में कहा जा रहा है कि अरिहंत भगवान के यद्यपि घातिकर्म नष्ट हो गए हैं; तथापि अघातिकर्म विद्यमान हैं; किंतु यह कर्म उनके दिव्य ज्ञान को रंचमात्र भी प्रभावित नहीं करते हैं।

जो वीतरागी व सर्वज्ञ के साथ–साथ हितोपदेशी भी हों, उन्हें आप्त कहते हैं। ऐसे आप्त ही मेरी परम शरण हैं।

इसके पश्चात् 19वें छंदमें आप्त की अन्य विशेषताओं को बताया जा रहा है।

जिसकी दिव्यज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्यप्रकाश।
स्वयं ज्ञानमय स्व-पर प्रकाशी, परम शरण मुझको वह आप्त ।।19।।

संदर्भ – इस छंदमें कवि आप्त की दिव्यज्योति को अनुपम बताते हुए कहते हैं कि-

अर्थ – जो स्व-पर को प्रकाशित करने वाले ज्ञान से तन्मय है, जिनके ज्ञान के दिव्य प्रकाश के सामने सूर्य का प्रकाश भी कम लगने लगता है, फीका पड़ जाता है; ऐसे वीतरागी भगवान ही मेरी परम शरण हैं।

व्याख्या – इस छंद में केवलज्ञान की महिमा बताई जा रही है। लोक में तेज के लिए, प्रकाश के लिए सूर्य प्रकाश को अनुपम माना जाता है, जिसके तेज के आगे अन्य सब तेज फीके पड़ जाते हैं; किंतु इसमें कहा जा रहा है कि केवलज्ञानी के ज्ञान के दिव्य प्रकाश के सामने सूर्य का तेज भी फीका पड़ जाता है। ऐसा ज्ञान स्वयं के साथ-साथ पर को भी प्रकाशित करता है- ऐसे ज्ञान से तन्मय आप्त ही मेरी परम शरण हैं।

इसके पश्चात् 20वे छंद में उनके ज्ञान की अन्य विशेषताओं को बताया जा रहा है।

जिसके ज्ञान रूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदि अन्त से रहित शान्त शिव, परमशरण मुझको वह आप्त ।।20।।

संदर्भ – इस छन्द में आप्त की सर्वज्ञता को बताते हुए कवि कह रहे हैं कि –

अर्थ – हे भगवान ! आपके ज्ञान रूपी दर्पण में तीन लोक, तीन काल के सभी पदार्थ एक साथ स्पष्ट झलकते हैं। जिस ज्ञान का आदि-अंत नहीं है, जो शांत है, कल्याणकारी है- ऐसे ज्ञानमयी आप्त ही मेरी परम शरण हैं।

व्याख्या – इस छंद में ज्ञान की उपमा दर्पण से दी जा रही है। जिसप्रकार दर्पण में सभी पदार्थ स्पष्ट रूप से झलकते रहते हैं व दर्पण उनसे निर्लिप्त रहता है; उसीप्रकार आपके ज्ञान रूपी दर्पण में सभी पदार्थ स्पष्ट रूप से झलक रहे हैं, फिर भी आप उनसे निर्लिप्त हैं। ऐसे निर्लिप्त भगवान ही मेरी परम शरण हैं।

इसके पश्चात् 21वें छंद में देव के शांत स्वभाव का कारण बताया जा रहा है।

जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।
भय–विषाद–चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव ।।21।।

संदर्भ – इस छंद में भगवान के शांत स्वभाव का कारण बताते हुए कवि कहते हैं कि–

अर्थ – हे भगवान ! जिसप्रकार अग्नि पेड़ों को जला कर नष्ट कर देती है; उसीप्रकार आपकी आत्मध्यान रूपी अग्नि के द्वारा भय, चिंता,दुःख सभी स्वयमेव नष्ट हो गए हैं। ऐसे शांत देव ही मेरी परम शरण हैं।

व्याख्या – इस छंद में कवि कह रहे हैं कि सच्चे देव को न किसी का भय होता है, न चिंता होती है, न दुःख। बस वे तो शांति से अपने शांत स्वभाव में ही तल्लीन रहते हैं। ऐसे देव ही मेरी परम शरण हैं।

लोक में सर्वोत्तम शरण तीन ही हैं– 1. अपनी आत्मा 2. पंच परमेष्ठी और 3) वीतरागी धर्म।

अपने आत्मा की शरण की बात 12 से 16 तक के छंदों में की थी। इसके बाद 17 से 21 तक के छंदों में सच्चे देव (अरिहंत, सिद्ध) को परम शरण कहा गया है।

इसके पश्चात् 22 से 24वे तक के तीन छंदों में आत्म स्थिरता रूप ध्यान की बात की जा रही है।

तृण, चौकी, शिल शैल, शिखर नहीं, आत्मसमाधि के आसन।
संस्तर, पूजा, संघ-सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन।।22।।

संदर्भ – ध्यान में किन-किन चीजों की जरूरत नहीं है? यह बताते हुए कवि कह रहे हैं कि-

अर्थ – घास का आसन और संस्तर (चटाई), चौकी (लकड़ी का आसन), शिला,पर्वत की चोटी आदि ध्यान के आसन नहीं हैं। इसीप्रकार किसी भी प्रकार की पूजा, संघ का सम्मेलन आदि भी समाधि के साधन नहीं हैं।

व्याख्या – इस छंद में आत्मस्थिरता रूप ध्यान के प्रचलित बहुचर्चित साधनों का निषेध किया गया है। इसमें कहा जा रहा है कि आत्मस्थिरता रूप ध्यान के लिए न तो किसी विशेष आसन की आवश्यकता है, और न विशेष साधन की। दुनिया में कहा जाता है कि ध्यान घास, लकड़ी या पत्थर के आसन पर बैठ कर करना चाहिए। उसी के प्रतीक रूप में इसमें तृण, चौकी व पर्वत शिखा आदि का निषेध किया गया है।

कहीं समाधि के साधन के तौर पर कुछ जोड़ने को कहा जाता है, कहीं मुनि संघ समागम आदि की प्रेरणा दी जाती है, तो कभी पूजा आदि करने को कहा जाता है; परंतु ये सभी समाधि के साधन नहीं हैं। समाधि में क्या हेय है, और क्या उपादेय- यही अगले 23 वें छंद में बताया जा रहा है।

इष्ट-वियोग, अनिष्ट-योग में, विश्‍व मनाता है मातम।
हेय सभी है विश्‍व वासना, उपादेय निर्मल आतम।।23।।

संदर्भ – इस छन्द में कवि शुद्ध-आत्मा की उपयोगिता बताते हुए कहते हैं कि-

अर्थ – दुनिया के सभी जीव इष्ट पदार्थों के वियोग व अनिष्ट पदार्थों के संयोग में दुःखी होते हैं। अतः विश्‍व में विद्यमान पदार्थों को पाने की चाह हेय है और एक निर्मल आत्मा ही उपादेय है।

व्याख्या – इस छंद में कवि दुःख के कारणों को छोड़ने की और सुख के कारण को ग्रहण करने की प्रेरणा दे रहे हैं। जहाँ संयोग है,वहाँ वियोग अनिवार्य है। अतः जो संयोग में जितना खुश होता है,वह वियोग में उतना ही दुःखी। दूसरी बात संयोग इष्ट–अनिष्ट दोनों का हो सकता है और वियोग भी इष्ट–अनिष्ट दोनों का हो सकता है। जीव संयोग में भी दुःखी हो सकता है और वियोग में भी। वस्तुतः होता यह है कि जीव अनुकूल पदार्थों का संयोग व प्रतिकूल का वियोग चाहता है; जबकि अक्सर होता उल्टा है और जीव दुःखी बना रहता है। इसी इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग की चर्चा इस छन्द में की है। कवि कह रहे हैं कि विश्व के सभी पदार्थों की चाहत छोड़ना चाहिए; क्योंकि उनमें कुछ इष्ट होंगे व कुछ अनिष्ट, कुछ का संयोग होगा और कुछ का वियोग और हम दुःखी होते ही रहेंगे। अतः यदि हमें दुःखों से बचना है तो एकमात्र शुद्ध–आत्मा ही उपादेय है। इसके पश्चात् 24वें छंद में बाह्य जगत का स्वरूप बताकर उसे छोड़ने की प्रेरणा दी जा रही है।

बाह्य जगत कुछ भी नहीं मेरा, और न बाह्य जगत का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें ।।24।।

संदर्भ – इस छन्द में स्व–पर भेद विज्ञान पूर्वक निज में स्थिर होने को दृढ़प्रतिज्ञ कवि कह रहे हैं कि–

अर्थ – बाह्य जगत में जिसे मैं अपना समझता हूँ, वह कुछ भी मेरा नहीं है और मैं भी इनका कुछ नहीं लगता– इसप्रकार अब मैं दृढ़ निश्चय करके बाह्य जगत को छोड़कर दुःखों से मुक्ति हेतु अपने में ही स्थिर होता हूँ।

व्याख्या – इस छन्द में कवि कह रहे हैं कि अब मुझे पूरा भरोसा हो गया है कि अभी तक जिन पर पदार्थों को मैं अपना मानता आ रहा था, वे मेरे हैं ही नहीं, मैं भी उनका नहीं हूँ। न वे मेरा अच्छा–बुरा

कर सकते हैं और न मैं उनका अच्छा-बुरा कर सकता हूँ। न वे मेरे दुःख दूर कर सकते हैं, न मैं उनके दुःख दूर कर सकता हूँ। पर से सुख-दुख की चाह मेरी गलत चाह थी; अतः अब मैं दुःखों से निवृत्ति व परिपूर्ण सुख प्राप्ति के लिए अपने आत्मा में ही स्थिर होता हूँ।

इसके पश्चात् 25 से 31 तक के 7 छंदों में अनेक प्रकार से इसी भेद-विज्ञान की भावना को नचाते (बताते) हैं।

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग-तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ।।25।।

संदर्भ – स्व सुख व पर सुख की तुलना करते हुए कवि इस छन्द में कहते हैं कि-

अर्थ – संसार में सुख मानना तो मृगमरीचिका के समान है और उसे पाने के लिए किया गया पुरुषार्थ व्यर्थ है। वस्तुतः बाह्य वस्तु में किया गया प्रयास पुरुषार्थ है ही नहीं, उसे पुरुषार्थ कहना गलत है,झूठा है। वस्तुतः तो स्वयं का सुख तो स्वयं में ही है।

व्याख्या – इस छंद में संसार में सुख खोजने को प्यासे हिरण द्वारा रेगिस्तान में पानी ढूँढने जैसा प्रयास कहा गया है। जिसप्रकार प्यासे हिरण को रेगिस्तान में पानी नहीं मिलता; पर पानी के भ्रम में वह दौड़ता-दौड़ता अंत में प्यासा ही दम तोड़ देता है। उसीप्रकार संसारी जीवों को संसार में, बाह्य वस्तुओं में कहीं सुख नहीं मिलता, और सुख पाने की चाह में बाह्य वस्तुओं में निरंतर किया उसका प्रयास व्यर्थ ही जाता है। वस्तुओं में किए गए प्रयास को वह पुरुषार्थ समझता है, जबकि पुरुष (आत्मा) के लिए किया गया प्रयास ही सच्चा पुरुषार्थ है; क्योंकि वास्तविक सुख तो अपने में ही है। अपना वास्तविक स्वरूप क्या है? उसकी और क्या-क्या विशेषताएँ हैं। आदि शंकाओं के समाधान ही 26वें छंद में किए जा रहे हैं।

अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञानस्वभावी है।
जो कुछ बाहर है, सब पर है, कर्माधीन विनाशी है।।26।।

सन्दर्भ – इस छंद में आत्मा के अविनाशी स्वभाव को बताते हुए कवि कहते हैं कि–

अर्थ – आत्मा कभी नष्ट नहीं होने वाला है। हमेशा रहने वाला है। मोहादि मैल से रहित, ज्ञान स्वभावी है। जो कुछ भी राग द्वेषादि विकारी भाव बाह्य में हमें नजर आते हैं, वह सब पर हैं, कर्म के वश होते हैं और नष्ट होने वाले हैं।

व्याख्या – इस छंद में आत्मा का स्वरूप नेगेटिव व पॉज़िटिव दोनों तरह से दिया गया है। आत्मा विकारी भावों के मैल से रहित निर्मल है। ज्ञान–आनंद उसका स्वभाव है। जो अनादि से है, अनंतकाल तक रहने वाला है। स्वभाव भाव कभी नष्ट नहीं होता है। जीव में जो कर्मों के सहयोग से हुई अवस्थाएँ हैं, वे नष्ट होने वाली हैं। वे सब बाहर–बाहर हैं, पर हैं, विभाव भाव हैं। इस बात को 27वें छंद में उदाहरण द्वारा समझाया जा रहा है।

तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत–तिय–मित्रों से कैसे।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहें कैसे।।27।।

संदर्भ – इस छंद में शरीर व शरीर से सम्बंधित बाह्य पदार्थों से भिन्नता बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – जिसप्रकार शरीर से चमड़ी दूर हो जाने पर रोम समूह रह ही नहीं सकता है; उसीप्रकार जिसे शरीर से ही अपनत्व–ममत्व नहीं है, उसे पत्नी–पुत्र–मित्र आदि (शरीर के संबंधियों) से एकत्व, ममत्व कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

व्याख्या – इस छंद में प्रश्नात्मक लहजे में शरीर और आत्मा की भिन्नता सिद्ध की जा रही है। हमारे पूरे शरीर में छोटे- छोटे बाल होते हैं, जिन्हें रोम कहा जाता है और शरीर के ऊपर का हिस्सा चमड़ी

कहलाता है। चमड़ी में छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। प्रत्येक छिद्र (छेद) में एक-एक बाल (रोम) होता है। कवि इसी का उदाहरण देते हुए कह रहे हैं कि किसी कारण वश यदि शरीर से चमड़ी निकल जाए तो रोम का समूह कैसे रह सकता है? अर्थात् नहीं रह सकता। इसीप्रकार जिसे शरीर से ही एकत्व बुद्धि समाप्त हो जाती है, वह शरीर से संबंध रखने वाले माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि से कैसे अपनत्व-ममत्व कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। जो पर पदार्थ से एकत्व-ममत्व करता है, उसकी दुर्दशा का चित्रण ही 28वें छंद में किया जा रहा है।

महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़ देह संयोग।
मोक्ष-महल का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग।।28।।

संदर्भ – इस छंद में कवि दुःख व सुख दोनों के कारणों को बताते हुए कहते हैं कि –

अर्थ – जो जीव पुद्गल से बनी देह (शरीर) और पर पदार्थ में अपनत्व-ममत्व करता है, वह जीव अत्यंत कष्ट भोगता है। दुःखों से पूर्ण मुक्ति रूप मोक्ष का रास्ता तो बिल्कुल सीधा-साधा, सरल है- जड़ पदार्थों व चेतन (आत्मा) का पूर्ण जुदा हो जाना।

व्याख्या – इस छंद में कवि कह रहे हैं कि हमारे संपूर्ण दुःखों का मुख्य कारण शरीर व शरीर से संबंधित संयोगों में अपनत्व-ममत्व है। जो चेतन जड़ पदार्थों से पूर्ण रूप से संबंध विच्छेद कर लेता है, एकत्व-ममत्व छोड़ देता है; वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्ष प्राप्ति का मार्ग ही 29वें छंद में बताया जा रहा है।

जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प-जालों को छोड़।
निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व आतमा, फिर-फिर लीन उसी में हो।।29।।

संदर्भ – इस छन्द में आत्मा में लीन होने की प्रेरणा देते हुए कहा जा रहा है कि-

अर्थ – हे आत्मन ! तुझे संसार भ्रमण के हेतुभूत मन के सभी विकल्पों को छोड़ देना चाहिए। जिससे तू निर्विकल्प और निर्द्वंद होकर, बार-बार उसी आत्मा में लीन हो।

व्याख्या – इस छंद में मानसिक संकल्प-विकल्पों को संसार में रहने का कारण बताया है। अतः कवि स्वयं को ही संबोधन करते हुए कह रहे हैं कि हे आत्मन! अब तो तू संसार के जंजाल से मुक्त होकर करने-धरने की भावना त्याग दे। ये दूसरों का अच्छा-बुरा करने की भावना ही तुझे संसार में रुला रही है। इन सभी संकल्प विकल्पों को छोड़ अपनी आत्मा को जानो, पहचानो और बार-बार उसी में लीन हो जाओ। इसी लीनता से संपूर्ण दुःखों से मुक्ति संभव है। यही मोक्ष-महल तक पहुँचने का सीधा-साधा सरल रास्ता है। इसके विपरीत संकल्प-विकल्प करने का फल 30वें व 31वें छंद में विस्तार से बताया जा रहा है।

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करें आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते।।30।।

संदर्भ – अपने संकल्प-विकल्पों के फल के भोक्ता हम स्वयं है- यह बताते हुए इस छंद में कहा गया है कि –

अर्थ – हमारे द्वारा किये गए शुभ-अशुभ कर्मों का फल हमें निश्चित रूप से मिलता है। यदि कर्म हम करें और फल देने वाला दूसरा कोई हो तो हमारे द्वारा किए गए कर्म निष्फल हो जाएँगे? जबकि ऐसा होता नहीं है।

व्याख्या – इस छंद में समझाया जा रहा है कि अपनी वर्तमान स्थिति के उत्तरादायी अपने किए गए कर्म ही हैं। वर्तमान में किए गए कर्म हमारे भविष्य के निर्माता हैं; क्योंकि अपने द्वारा किये गए शुभ या अशुभ कर्म हमें निश्चित रूप से फल देते ही हैं। कोई अन्य की बात जाने दो, ईश्वर भी उसमें फेर-फ़ार नहीं कर सकता। यदि हम

पाप करें व कोई उसे माफ़ कर दे, तो फिर हमारे किए गए कर्म तो निष्फल हो गए। इस तरह से तो सारी दुनिया पाप करके क्षमा चाहने लगेगी; जबकि वस्तु-व्यवस्था में ऐसा अन्याय संभव नहीं है। यदि बुरे कर्मों की हमें सजा मिलती है, तो अच्छे कर्मों से हमें ईनाम भी मिलता है।

हम तो भगवान की भक्ति करते रहेंगे व हमारे सभी पाप माफ़ हो जाएँगे। गंगा जी में नहायेंगे और निष्पाप (पाप रहित) हो जाएँगे - ऐसा मानने वालों का खंडन ही 31वे छंद में किया गया है।

अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि।।31।।

संदर्भ – इस छन्द में एक बार पुनः आत्मा में स्थिर होने की प्रेरणा देते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – जीव को अपने कर्मों के सिवाय अन्य कोई भी, कुछ भी फल नहीं देता है। इसलिए 'पर देता है'- ऐसा विचार छोड़कर, आलसी बुद्धि छोड़ कर अपनी आत्मा में ही स्थिर हो जा।

व्याख्या – इस छंद में कवि मानो आज्ञा देते हुए कह रहे हैं कि- अरे बहुत बहस से क्या? अब तर्क-वितर्क करना बंद करो। राजा-महाराजा की बात जाने दो, ईश्वर भी तुम्हारा अच्छा-बुरा करने में समर्थ नहीं हैं। एक मात्र तुम्हारे संकल्प-विकल्प ही कर्म बंधन के कारण हैं। उन कर्मों का फल ही प्रत्येक जीव को मिलता है। जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा फल मिलता है। कर्मों के सिवाय अन्य कोई भी फल देने में समर्थ नहीं है। इसलिए आलस्य छोड़ो, पर के भरोसे मत बैठे रहो। एक मात्र अपनी आत्मा को जानो-पहचानो। उसी में जमो-रमो। अपने में जमने-रमने का फल ही 32वें छंद में बताया जा रहा है-

निर्मल, सत्य, शिवं, सुन्दर है, 'अमितगति' वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण।।32।।

संदर्भ – इस छंद में कारण परमात्मारूप शुद्ध–आत्मा को ही निर्वाण का कारण बताते हुए कवि कहते हैं कि –

अर्थ – आचार्य अमितगति कहते हैं कि वह महान देव शुद्ध–आत्मा मल रहित है, सत्य है, सुन्दर है, कल्याणकारी है– ऐसी शुद्ध–आत्मा को जो लगातार निज स्वरूप अनुभव करते हैं,वे ही निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या – यह भावना बत्तीसी का अंतिम छंद है। कवि अपने नामपूर्वक एक बार पुनः कारण परमात्मा की महिमा व स्वरूप बताते हुए उसी में लीन रहने की प्रेरणा देते हैं और लीन रहने का फल सम्पूर्ण दुःखों से सदाकाल के लिए मुक्ति बतलाते हैं। जो जीव इस रास्ते पर चलते हैं, वही आठों कर्मों से मुक्त हो निर्वाण प्राप्त करते हैं।

हम देखते हैं कि यह स्तुति स्वयं की आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके आरंभ के 11 छंदों में कवि अपने दोषों को उजागर करते हुए उन्हें दूर कर समता भाव की भावना भाते हैं। यह तो व्यवहार आलोचना हुई।

इसके पश्चात् निश्चय आलोचना की प्राप्ति के लिए 12 से 16 तक कारण परमात्मा का स्वरूप, शुद्ध–आत्मा का स्वरूप बताते हुए सदा उस शुद्ध–आत्मा के साथ रहने की भावना भाई गई है।

17 से 21 तक के छंदों में कार्य परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। इसके पश्चात् 22 से 32 तक के छंदों में पूरा मोक्षमार्ग समाहित हो गया है। जिसमें स्व–पर भेदविज्ञान, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं, ईश्वर कर्तावाद खंडन, स्व कर्तावाद मंडन और पुनः आत्मा का शुद्ध स्वरूप बताते हुए उसी में लीन रहने की आज्ञा दी गई है, प्रेरणा दी गयी है, प्रतिज्ञा की गई है।

–●–

तत्वज्ञान पाठमाला भाग – 1
प्रश्न पत्र

1. ''सात तत्त्व संबंधी भूलें'' नामक पाठ किस ग्रंथ के, किस अध्याय के आधार पर लिखा गया है? लेखक का नाम सहित बताएँ। (1)
2. क्या शास्त्र अभ्यास होने के बाद भी मिथ्यात्व हो सकता है? कारण सहित बताएँ। (1)
3. भेद विज्ञान किसे कहते हैं? भेद विज्ञान न होने से क्या तात्पर्य है? (2)
4. वीतरागी दशा किन-किन गुणस्थानों में संभव है? (1)
5. वीतराग दशा होने के कारण भूत कथन बताएँ? (2)
6. जीव व अजीव तत्त्व संबंधी भूल के मुख्य अंतर को अपने शब्दों में बताएँ। क्या आप भी इसप्रकार की भूल कर रहे हैं? और उससे बचने के उपाय क्या हैं? (10)
7. आस्रव तत्त्व संबंधी भूल और बंध तत्त्व संबंधी भूल में क्या अंतर है? दोनों भूलों को जानकर आपके जीवन में क्या परिवर्तन आया? (10)
8. आस्रव व संवर तत्व संबंधी भूल में क्या अंतर है? (1)
9. पाँचों भावों के नाम बताईये। उनमें से कौन से भाव हेय हैं और कौन से उपादेय तथा क्यों? (1)

   अथवा

   आपकी दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण भाव कौन सा है और क्यों? (1)
10. पाँच भावों का स्वरूप समझकर आप अपने जीवन में क्या परिवर्तन करना चाहेंगे। (10)
11. व्रत, उपवास, पूजा, पाठ आदि क्रियाओं में धर्म मानना कौन से तत्व संबंधी भूल है? (1)
12. आप अपनी किन क्रियाओं को धर्म मानकर करते आ रहे थे? और किस तत्व के आधार पर आपका भ्रम दूर हुआ? (10)

    अथवा

    सात तत्त्व संबंधी भूलें समझकर आपके जीवन में क्या बदलाव आया? (10)

13. आप अपने जीवन में की गई भूलों को किस तत्त्व संबंधी भूल मानते हैं- उनके सुधार का क्या उपाय आपको सात तत्त्व संबंधी भूल के आधार पर समझ में आया। (10)

अथवा

सात तत्त्व संबंधी पाठ के आधार पर बताएँ कि जिनवाणी सुनने के बाद भी आपके जीवन में कौन सी भूलें हो रही हैं। (10)

14. सुख क्या है? पाठ के आधार पर बताएँ कि सुख के संबंध में आपकी अभी तक क्या मूल धारणाएँ थीं? और वे कैसे दूर हुईं? (10)

15. सच्चे सुख का क्या स्वरूप है? उसके लिए क्या करना चाहिए?और अभी तक जो हम कर रहे थे क्या वह सही पुरुषार्थ था? (10)

16. अपने जीवन के उदाहरण देकर बताएँ - किन्ही दो का उत्तर दें - (20)

अ) प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को जानने से हम अवसाद (डिप्रेशन) से कैसे बच सकते हैं?

ब) अत्यंता भाव को जानने से हम निर्भार कैसे हो सकते हैं?

स) अन्योन्याभाव जानने से कर्तृत्व बुद्धि कैसे समाप्त हो सकती है?

17. पाँच पांडवों के जीवन से हमें क्या शिक्षा मिलती है? यदि उनके स्थान पर आप होते तो आप कौन सा कार्य करते और कौन सा कार्य नहीं करते। (5)

18. भावना बत्तीसी में किन-किन सिद्धांतों को समाहित किया गया है और क्या प्रेरणा दी गई है? (5)

19. भावना बत्तीसी की विषय वस्तु को संक्षेप में अपने शब्दों में लिखिए। (10)

अथवा

भावना बत्तीसी में आपको सर्वाधिक पसंद कौन सा छंद आया और क्यों? अर्थ सहित छंद लिखिए।

20. सीमंधर पूजन में मुक्ति मार्ग की प्रक्रिया किन-किन छंदो में बतायी गई है? उनका सार संक्षेप में छंद सहित अपने शब्दों में लिखिए। (10)

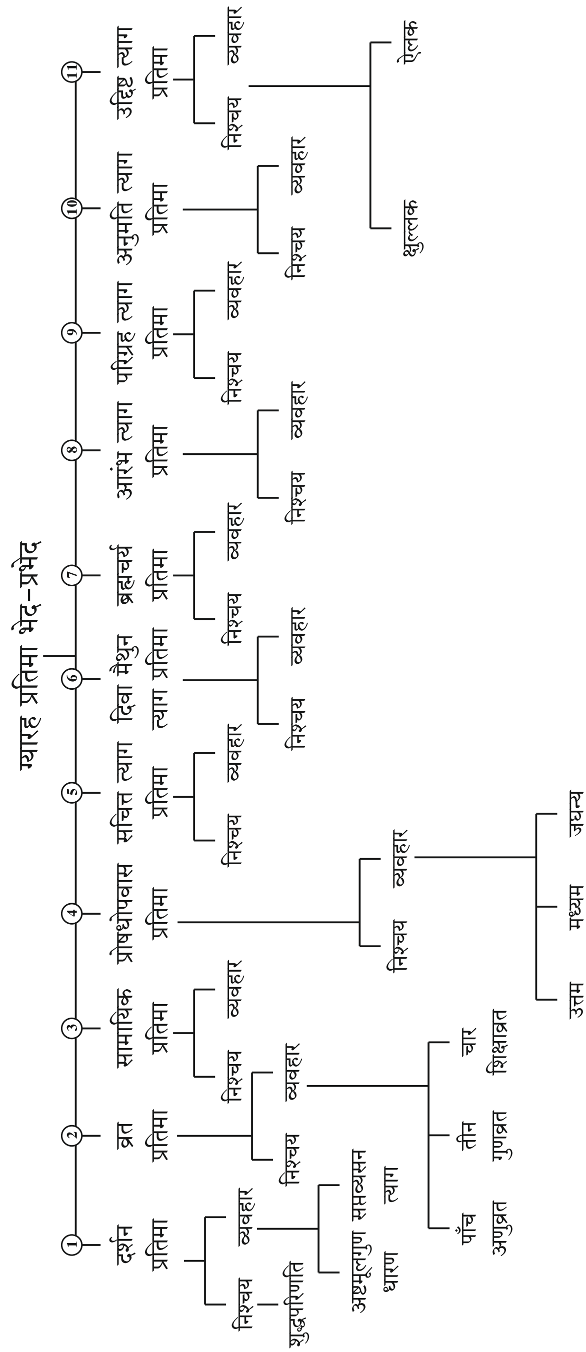
ग्यारह प्रतिमा भेद-प्रभेद
1 दर्शन प्रतिमा
निश्चय
शुद्धपरिणति
व्यवहार
अष्टमूलगुण धारण
सप्तव्यसन त्याग
2 व्रत प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
पाँच अणुव्रत
तीन गुणव्रत
चार शिक्षाव्रत
3 सामायिक प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
4 प्रोषधोपवास प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
उत्तम
मध्यम
जघन्य
5 सचित त्याग प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
6 दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
7 ब्रह्मचर्य प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
8 आरंभ त्याग प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
9 परिग्रह त्याग प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
10 अनुमति त्याग प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
11 उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा
निश्चय
व्यवहार
क्षुल्लक
ऐलक

जैन बाल साहित्य के उत्कृष्ट लेखन हेतु अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा **विद्वत्रत्न की उपाधि** से सम्मानित विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया को 8 मार्च 2008 को महिला दिवस के अवसर पर मुम्बई की महापौर के शुभ कर कमलों से भी सम्मानित किया गया है। आपका जन्म अशोकनगर (म.प्र.) में 30 जनवरी 1958 को हुआ।

आपके द्वारा एम.ए. में लघुशोध निबंध के रूप में लिखी गई पुस्तक मात्र 19 वर्ष की अवस्था (27-11-1977) में प्रकाशित हो गई।

आधुनिक बाल जैन साहित्य की प्रणेता आपने **जैन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम पहेलियों के रूप में** प्रस्तुत कर जैन बाल साहित्य को नई दिशा प्रदान की है। खेल-खेल में **गेम्स के माध्यम** से बच्चों में जैन सिद्धान्तों का बीजारोपण करने का प्रयास सर्वप्रथम आपके द्वारा किया गया। आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकों में पहेलियों, कविताओं और प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गए पाठों के माध्यम से तत्त्वज्ञान एवं भेदज्ञान कराया गया है। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ आपके द्वारा लिखित बाल साहित्य, राम कहानी आदि साहित्य उपलब्ध न हो। बच्चों में बचपन से ही धार्मिक संस्कार कैसे डालें - उसकी ट्रेनिग आप देती रहती हैं। आपने विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैलियों में अध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है। गद्य-शैली, पद्य-शैली, चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली, पत्रशैली, डायरीशैली, छोटे-छोटे मंचन योग्य नाटक, बड़े-बड़े नाटक आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं के दर्शन आपकी कृतियों में होते हैं। आपने जैनदर्शन को आधुनिक पद्धति से पढ़ाने का एक व्यवस्थित कोर्स भी तैयार किया है।

आपके निर्देशन में सर्वप्रथम युवाओं के लिए देश भर में **art of happy living** नाम से सेमीनार कम वर्कशॉप के अनेकों आयोजन भी किए जाते हैं। धर्म प्रचारार्थ आप देश-विदेश की यात्राएँ करती रहती हैं।

आपके निर्देशन में 'परमागम ऑनर्स' शास्त्री कोर्स का आरम्भ जुलाई 2016 से हो गया है। आप दिव्य ध्वनि प्रचार-प्रसार (सर्वोदय) ट्रस्ट की अध्यक्ष, अखिल भारतीय विद्युत परिषद के महिला प्रकोष्ठ की भी अध्यक्ष हैं। अन्य अनेकों महिला संगठनों में आप किसी न किसी रूप में जुड़ी हैं। समयसार विद्या निकेतन ग्वालियर की आप निर्देशक हैं। वर्तमान में आप पी.एच.डी. की गाईड भी हैं। किसी भी विषय से पी.जी. किए हुए व्यक्ति यदि जैनदर्शन में पी.एच.डी. करना चाहते हैं तो आपके निर्देशन में कर सकते हैं।